श्रीः ।

अथ वेदान्तदर्शनस्य अधिकरणानुक्रमणिका ।

इति श्रीवेदान्तदर्शनस्य अधिकरणानुक्रमणिका समाप्ता ।

ॐ नमो नारायणाय ।

अथ वेदान्तदर्शनम् ।

पं० माधवाचार्यकृतवेदान्तपदार्थप्रकाशसहितम् ।

तत्र प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । १-१-१ ।

अखिलभुवनजन्मस्थेमभङ्गादिलीले
विनतविविधभूतव्रातरक्षैकदीक्षे ।
श्रुतिशिरसि विदीप्ते ब्रह्मणि श्रीनिवासे
भवतु मम परस्मिन् शेमुषी भक्तिरूपा ॥ १ ॥

अथ—कर्मज्ञानके बाद अतः—कर्म अल्प तथा अस्थिर फल देनेवाले हैं और ब्रह्मज्ञान अनन्त अक्षय फल देनेवाला है इस कारण ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

वेदके अध्ययनके बाद कर्मकलापकी पूर्ण जानकारी प्राप्त कर ले, पूर्वमीमांसासे जाने हुए कर्मके फलका अनित्य तथा अल्प होनेका निश्चय होनेके पीछे कर्मफल कुछ चीज नहीं है इसलिये ब्रह्मके जाननेका प्रयत्न करके ब्रह्मको जानना चाहिये, कि ब्रह्मका क्या स्वरूप है ।

परमपुरुष परमात्मा अनन्य भक्तिसे प्राप्त होते हैं, यामुनाचार्य्यजीने कहा है कि ज्ञानयोग तथा कर्मयोगसे अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेपर अनन्य और निरतिशय भक्तिसे परमात्मा प्राप्त होते हैं । शांकरभाष्यने साधन चतुष्टयके बाद ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्ति मानी है । (ब्रह्मजिज्ञासाधिकरणम्)

जन्माद्यस्य यतः । १-१-२ ।

यतः—जिस सकलहेयगुणरहित, कल्याणगुणयुक्त, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, पुरुषोत्तमसे अस्य—विचित्र रचनासे रचित, देशकाल भोगसे नियत, ब्रह्मासे लेकर स्तंब पर्य्यन्त क्षेत्रज्ञयुत जगत्की जन्मादि—सृष्टि स्थिति और प्रलय हों वह ब्रह्म है ।

जिस पुरुषोत्तमसे इस संसारकी उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होते हैं, वह ब्रह्म है । चाहे वे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किसी रीतिसे भी कहे गये हों, जिससे कहे गये हों वहां उसे ब्रह्मका ही परिचायक समझना चाहिये, इसी आधार पर पुराणोंके भी कर्तृवादकी एकता हो जाती है । (जन्माद्यधिकरणम्)

शास्त्रयोनित्वात् । १-१-३ ।

शास्त्रम्—यस्य योनिः कारणं प्रमाणं तस्य भावस्तस्मात् । शास्त्र ही इस ब्रह्ममें प्रमाण है ।

ब्रह्मके स्वरूपको शास्त्र ही बोधन करते हैं इस कारण ये शास्त्र वेद ही, ब्रह्ममें प्रमाण हैं ।

ब्रह्म अतीन्द्रिय होनेसे प्रत्यक्षका भी विषय नहीं है, अनुमान भी उसका करना सड़े हुए कासी-फलके समान है, अतएव ब्रह्म शब्दैकप्रमाणगम्य है दूसरे प्रमाणोंसे वह प्राप्त नहीं हो सकता । ब्रह्मके स्वरूपको प्रतिपादन करनेमें वेदान्ती सिवा शास्त्र प्रमाणके दूसरे प्रमाणोंको कोई महत्त्व नहीं देते हैं । (शास्त्रयोन्यधिकरणम्)

तत्तु समन्वयात् । १–१–४ ।

तत्–ब्रह्मको शास्त्रयोनित्व तु–तो समन्वयात्–समन्वयसे सिद्ध होता है ।

संपूर्ण वेदान्त, ब्रह्मके अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं इस लिये ब्रह्ममें शास्त्र प्रमाण है । निषेधमुखसे या विधिमुखसे सब वेदान्त अन्ततो गत्वा ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं इस कारण ब्रह्ममें शास्त्र ही प्रमाण मानते हैं । (समन्वयाधिकरणम्)

ईक्षतेर्नाशब्दम् । १–१–५ ।

अशब्दम्–जिसका वेद प्रतिपादन नहीं करता ऐसा सांख्य शास्त्रका कहा हुआ प्रधान न–जगत्का कारण नहीं है । ईक्षतेः–क्योंकि ईक्षणक्रियाका योग अचेतनको हो नहीं सकता ।

सांख्यने जड़प्रकृतिको जगत्का कारण माना है,यह जड़ प्रधानको जगत्का कारण, वेद प्रतिपादन नहीं करता, जहां कहीं भी सृष्टिकी रचनाका जिक्र आया है वहां तदैक्षत–उसने विचारा, इत्यादि बातें आती हैं । सोचना, देखना, विचारना ये काम चैतन्योंके हैं जड़ोंके नहीं हैं ।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् । १–१–६ ।

गौणः–जिस तरह अचेतन तेज और जलको छान्दोग्य उपनिषद्में कह दिया है कि–तत्तेज ऐक्षत–उस तेजने विचारा,ता आप ऐक्षन्त–उन जलोंने विचारा, उसी तरह सृष्टि–निर्माणके उन्मुख प्रधानमें भी ईक्षण, गौण समझा जायगा ऐसा कहो चेत्–तो न–नहीं कह सकते, आत्मशब्दात्–क्योंकि सत्शब्दवाच्य आत्मशब्दसे व्यपदेश किया गया है ।

सत्के ईक्षणको गौण नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसी प्रकरणमें सत् शब्दके वाच्यको आत्म-शब्दसे कहा गया है, आत्माका उपदेश अचेतन प्रधानमें संगत नहीं होता है ।

यद्यपि और और दर्शनोंके साथ भी इस दर्शनकी टक्कर है पर सांख्यके साथ इसकी टक्कर कुछ अधिक मात्रामें मालूम होती है, इस अधिक संघर्षका यह भी कारण है कि सांख्य अपने पक्षको श्रुतियोंसे सिद्ध करनेकी कोशिश करता है और वेदान्त भी श्रुतियों पर ही अवलंबित है, यह समान क्षेत्र इनके अधिक संघर्षका कारण है । सांख्यने कहा था सत्का अर्थ प्रकृति है, रही यह बात कि जड़ संकल्प नहीं कर सकता कि मैं इस कामको करूं पर सत् तो संकल्प करता देखा जाता है । इसके बारेमें यह कहना है कि जिस तरह जड़ तेज जल अन्न आदि आपके यहां बहुत होनेके संकल्प करते हैं उसी तरह सत् भी संकल्प करता हैं ।

यदि उनका संकल्प आरोपित या कहने मात्रका है तो इस सत्का भी संकल्प आरोपित या कहने मात्रका समझ लो । इसके उत्तरमें व्यास देवने कहा है कि इस सत्शब्दके वाच्यको लेकर छा. ६–८–७ में कि ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा–इस सब कार्य्यकी वह आत्मा है अर्थात जिस आत्माके तादात्म्यसे यह कार्य है वह आत्मा है इसने सत्शब्दवाच्यको आत्मा कह दिया है ।

रही तेज आदिकी बात उनके लिये उपनिषद्ने यह कहा है कि हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि—उस सत्शब्द वाच्यने विचार किया ये तीन देवता हैं, मैं इन तीनोंमें प्रविष्ट होकर जीवात्माके साथ नामरूपकी व्यक्ति करूं; इससे मालूम होता है तेज आदिकी भी आत्मा वही है उसीके प्रवेशसे ये वस्तु मालूम होती है इनका ईक्षण भी परमात्माका ही ईक्षण है इस कारण यह भी मुख्य है फिर सत्के ईक्षणको कभी भी अमुख्य नहीं कहा जा सकता, जिस तरह दुनियांके मनुष्य गिरनेवाले जड़ किनारेके लिये कह दिया करते हैं कि यह गिरेगा उसी तरह उपनिषदोंमें आनेवाले तेज आदिके ईक्षणको गौण नहीं कह सकते । कारण, इन सबका आत्मशब्दसे व्यपदेश किया गया है तब ईक्षणपूर्वक सृष्टिकर्ताके ईक्षणको किस तरह गौण कहा जा सकता है ।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । १-१-७ ।

तन्निष्ठस्य—सद्ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवालेको इसी प्रकरणमें मोक्षोपदेशात्—मोक्षका उपदेश दिया है।

प्रधानके संसारका मूल कारण माननेवाले प्रधानकी निष्ठाको मोक्षका कारण नहीं मानते किन्तु उपनिषद् तो सद्ब्रह्मनिष्ठकी शरीरके शान्त होने पर मोक्ष मानते हैं, सो उपनिषदादिकोंमें प्रधानका कारणवाद माननेवालोंके मतमें असंगत होगा, इसलिये आरम्भसे प्रधानका कारणवाद स्वीकार करना अच्छा नहीं है ।

उस श्रुतिको भी यहां ही रखते हैं—तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये—जिस तरह किसी पुरुषको आंख बांधकर गन्धारसे लेजाकर जंगलमें छोड़ दिया जाय फिर वह चारों दिशाओंमें मारा मारा फिरता है पर रास्ता नहीं पाता । कोई कृपालु पुरुष उसके आंखोंकी पट्टी खोलकर रास्ता बता देता है तो उस रास्तेसे वह गन्धारको आनन्दके साथ पहुँच जाता है । इसी तरह आचार्य्य रास्ता बता देता है जिससे वह आनन्दके साथ पहुँच जाता है इसी तरह सन्निष्ठ पुरुषको तब तक ही देर है जब तक प्रारब्धसे पीछा नहीं छूटता, प्रारब्धसे पीछा छूटतेही मुक्त हो जायगा ।

यह उसी सद्निष्ठको मोक्षका उपदेश दिया है पर सांख्यशास्त्र प्रकृतिनिष्ठको मोक्ष नहीं कहता इस कारण सत्का प्रधान अर्थ नहीं किया जा सकता ।

हेयत्वावचनाच्च । १-१-८ ।

च—दूसरा कारण यह भी है कि सत्शब्दवाच्यको कहीं भी हेयत्व—त्याज्य होनेका अवचनात्—विधान नहीं किया गया है ।

सत्शब्दवाच्य ब्रह्म ही है प्रधान नहीं है, यदि प्रधान होता तो सत्निष्ठाको छोड़कर जिस निष्ठामें मोक्ष होता है उस निष्ठाको दिखाना था परन्तु वैसा किया नहीं गया है अतएव सत्शब्दका अर्थ प्रधान नहीं है ।

प्रतिज्ञाविरोधात् । १-१-९ ।

प्रतिज्ञा—एकके जाननेसे सबका ज्ञान हो जाता है यह प्रतिज्ञा है, प्रधानको सबका कारण माननेपर चेतनवर्गको प्रधानका कारण न होनेसे प्रधानके ज्ञानसे उसका ज्ञान न होनेके कारण एकके जाननेसे सबका ज्ञान हो जाता है इस प्रतिज्ञाका विरोधात्—विरोध होनेसे प्रधानकारणवाद ठीक नहीं है । (यह सूत्र शांकरभाष्यमें नहीं है)

स्वाप्ययात् । १-१-१० ।

स्व-अपने कारणमें जीवका अप्ययात्-लय होनेसे ।

सुषुप्तिके समय जीव अपने कारण सद् आत्मामें लय होता है । छान्दोग्य उपनिषदमें यह लिखा हुआ है, इससे मालूम होता है कि सत्शब्दका अर्थ ब्रह्म है, प्रधान नहीं है ।

आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहने लगे कि स्वप्नान्त यानी सुषुप्तिकी दशाका उपदेश सुन; जब यह मनुष्य ऐसा सोता है कि स्वप्न भी नहीं देखता गंभीर निद्रामें सोता है,उस समय हे सौम्य! **सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेन ५ स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति**-जब जीव सत्के साथ सम्पन्न यानी सुपुप्त होता है उसे अपने कारण नारायणमें लय हो गया ऐसा कहते हैं । सत् संपन्नको सुषुप्त करनेके कारण सत्-शब्दका अर्थ प्रकृति नहीं है क्योंकि प्रकृतिमें लय सांख्यके मतमें भी पुरुषका नहीं होता ।

गतिसामान्यात् । १--१--११ ।

गति-अवगतिके सामान्यात्-एक होनेसे ।

संपूर्ण वेदान्तोंमें एक सत्-शब्द वाच्य ब्रह्मका ही प्रतिपादन वा प्रतीति है दूसरेका प्रतिपादन वा प्रतीति नहीं है, इस कारण सत्-शब्दवाच्य आत्माके सिवा दूसरा कोई नहीं है ।

श्रुतत्वाच्च । १-१-१२ ।

च-और श्रुतत्वात्-सुना भी यही जाता है इससे ।

इसी छान्दोग्य उपनिषदमें सत् शब्द वाच्य ब्रह्मको ही आत्मरूपसे नामरूपका व्याकर्ता सुना गया है इस लिये ब्रह्म ही सत्-शब्दवाच्य तथा जगत्का कारण है प्रकृति नहीं है नामरूपके विभाग या प्रकट करनेवालेको व्याकर्ता कहते हैं । (ईक्षत्यधिकरणं समाप्तम्)

आनन्दमयोऽभ्यासात् । १-१-१३ ।

आनन्दमयः-आनन्दमय शब्द परमात्माका वाचक है क्योंकि अभ्यासात्-परमात्मामें आनन्दमय शब्दका वारंवार प्रयोग किया गया है ।

यह तैत्तिरीयका प्रकरण है इसमें यह शंका होती है कि आनन्दमय कौन है उसीके निर्णयके यह अधिकरण है कि आनन्दमय परमात्मा है ।

तै० उ० ब्र० वल्लीके दूसरे अनुवाकसे पांचवें अनुवाकतक पंचकोशका विशेष विचार चला है कि तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात् । अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः-इस अन्नरसमय स्थूल शरीरके भीतर प्राणमय कोश छा रहे हैं । इसी तरह क्रम प्राप्त कहा है कि **एतस्माद् विज्ञानमयात्** । अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः-इस विज्ञानमयसे, अन्य आनन्दमय आत्मा भीतर है इस आनन्दमयपर विचार चला है कि यह आनन्दमय कौन है ? इसीपर यह अधिकरण लिखा गया है, आनन्दमयपर विशेष विचार हमने तीसरे अध्यायके तीसरे पादमें भी कहा है ।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् । १-१-१४ ।

विकारशब्दात्-अन्नमयशब्दकी तरह आनन्दमयशब्दमें विकारअर्थवाला मयट्प्रत्यय होनेके कारण न-आनन्दमयशब्दका परमात्मा अर्थ नहीं है इति-ऐसा कहो चेत्-तो न-ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि आनन्दशब्दसे मयट्प्रत्यय प्राचुर्य्यात्-प्रभूतअर्थमें हुआ है ।

जिस तरह अन्नमयशब्दका अर्थ अन्नका विकार यह स्थूलशरीर होता है; उसी तरह आनन्दमय शब्दका अर्थ आनन्दका विकार नहीं होता, कारण आनन्दशब्दसे मयट् विकार अर्थमें नहीं है किन्तु प्राचुर्य्य अर्थमें है ।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च । १-१-१५ ।

तत्-उस आनन्दका हेतु-कारण व्यपदेशात्-आत्माको कहा गया है च-इससे आनन्दमय शब्दसे परमात्माका ही बोध होना चाहिये ।

एष ह्येवानन्दयाति-यह परमात्मा ही जीवोंको आनन्द देता है इत्याद्यर्थक वाक्योंमें परमात्माको जीवोंका आनन्द करनेवाला कहा है, इससे भी यही मालूम होता है आनन्दशब्दसे प्राचुर्य्य अर्थमें मयट् प्रत्यय होकर परमात्माका वाचक आनन्दमय शब्द बना है ।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते । १-१-१६ ।

च-और मांत्रवार्णकम्-मंत्रोंके अक्षरोंमें कहा हुआ ब्रह्म एव-ही गीयते-यहां आनन्दमय शब्दसे कहा गया है ।

तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्लीके पहिले अनुवाकमें साक्षात् ब्रह्मका उच्चारण करके उसे ही आनन्दमय शब्दसे इसी वल्लीके पांचवे अनुवाकमें कहा है, इसलिये आनन्दमयशब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण होता है, दूसरे किसीका भी नहीं होता ।

नेतरोऽनुपपत्तेः । १--१--१७ ।

इतरः-चाहे मुक्तावस्थामें ही जीव क्यों न हो पर वह न-मंत्रोंमें कहा हुआ आनन्दमयशब्दवाच्य ब्रह्म नहीं हो सकता कारण अनुपपत्तेः-निरुपाधिक विपश्चित्त्व, जीवको किसी भी दशामें नहीं हो सकता ।

(विपश्चित्त्व-विका विविध-अनेक तरह वहुत, पशका पश्यत्-विचार करनेवाला चित्त्वम्-चिद्, त्व-एक मैं वहुत हो जाऊँ ऐसे विचार करनेवाले चिद्का भाव यह ईश्वरका ही कार्य है) जीव चाहे मुक्तकी दशामें ही क्यों न हो परन्तु वह श्रुतियोंमें कहा हुआ आनन्दमय शब्दवाच्य ब्रह्म नहीं हो सकता,क्योंकि वहुत होनेकी इच्छा सृष्टिके आदिमें पुरुषोत्तमकी होती है जीवकी नहीं होती ।

भेदव्यपदेशाच्च । १-१-१८ ।

भेद-विज्ञानमयजीवसे आनन्दमयका भेद व्यपदेशात्-दिखानेके कारण च-मुक्तावस्थ भी जीव श्रुतियोंसे प्रतिपादित आनन्दमयशब्दवाच्य ब्रह्म नहीं हो सकता ।

तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली ९ में कहा है कि विज्ञानमयजीवसे आनन्दमय आत्मा पृथक् है, इससे यह मालूम होता है कि आनन्दमयशब्दवाच्य जीव नहीं है । श्रीशंकर स्वामीने इस सूत्रका यह व्याख्यान किया है कि-

भेद-तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली ७ में कहा है कि वह परमात्मा रस रूप है, यह जीव उसको पाकर आनन्दित हो जाता है इस भेदके व्यपदेशात्-निर्देश करनेसे च-संसारी जीव आनन्दमयशब्दवाच्य नहीं हो सकता ।

कामाच्च नानुमानापेक्षा । १-१-१९ ।

कामात्-तैत्तिरीय २-६में सोऽकामयत बहु स्याम्-उसने इच्छा की बहुत होऊँ "यह तो कामना करनेवालेका निर्देश होनेके कारण अनुमानापेक्षा-सांख्यशास्त्रके कहे हुए प्रधामकी अपेक्षा भी न-नहीं रहती, च-इसलिये आनन्दमय शब्दवाच्य प्रधान भी नहीं हो सकता ।

तै०-२-६ में लिखा है कि अपनी इच्छासे ही सब सृष्टि रच दी, इससे मालूम होता है कि आनन्दमयको सृष्टि रचनेमें किसीके प्रधान आदिके संसर्गकी अपेक्षा नहीं है ।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति । १-१-२० ।

च-और शास्त्र अस्मिन्-इस आनन्दमय आत्मामें अस्य-इस प्रतिबुद्ध-जीवको तद्योगम्-आनन्दकी प्राप्ति शास्ति -शासन करता वा कहता है शास्त्र इस आनन्दमय आत्मामें जीवको आनन्दकी प्राप्ति कहता है इस कारण जीवसे परमात्मा आनन्दमय जुदा है ।

तै०-२-७ में रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति-यह आनन्दमय आत्मा रसरूप है, यह जीव इसको पाकर आनन्दित हो जाता है इस आनन्दमयके लाभसे जीवको आनन्दित होना लिखा है यह बात साफ ही खुलासा हो जाती है कि जीव आनन्दमय नहीं है ।

(आनन्दमयाधिकरणं समाप्तम्)

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । १-१-२१ ।

अथ य एषोऽन्तराक्षिणि पुरुषो दृश्यते

अन्तः-य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते छा०१-१-६-७आदित्यमण्डलके भीतर तथा नेत्रोंके भीतर पुरुष है वह परमात्मा है, तद्धर्मोपदेशात्-निष्पापत्वादि ब्रह्मके धर्मोंसे उसका उपदेश किया है ।

परमात्माके धर्मोंसे उसका उपदेश किया गया है इसलिये आदित्य मण्डलके बीच तथा आखोंमें उस परमात्माका ही उपदेश दिया गया है दूसरे किसीका उपदेश नहीं है ।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः । १-१-२२ ।

च-और भेदव्यपदेशात्-आदित्यादिक जीवोंसे परमात्माका पृथक् निर्देश किया गया है इस कारण अन्यः-आदित्य तथा चक्षुमें रहनेवाला पुरुष इनसे भिन्न है ।

और आदित्य आदिकोंके साथ आदित्य आदिमें रहनेवाले पुरुषको भिन्न दिखाया है इस कारण आदित्य और चक्षुमें रहनेवाला पुरुष आदित्य और चक्षुसे जुदा है ।

बृहदारण्य-३-७-में जब उद्दालक आरुणिने पूछा है कि हे याज्ञवल्क्य ! जैसा तुम कहते हो वैसा ही है, अब अन्तर्यामीको कहो तब अन्तर्यामीका उपदेश देती वार याज्ञवल्क्यने कहा है कि-य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः-जो आदित्यमें रहता हुआ भी आदित्य-(सूर्य्य)से भिन्न है जिसे सूर्य नहीं जानता, जिसका सूर्य शरीर है, जो सूर्य्यमें रहता हुआ सूर्य्यकी प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण नियमन करता है वही यह अन्तर्यामी हैं इसमें सूर्य्यमण्डलमें रहनेवाले पुरुषको सूर्य्यसे जुदा कहा गया है इसीतरह यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्माऽऽन्तर्याम्यमृतः । जो चक्षुमें रहता हुआ चक्षुसे

जुदा है जिसे चक्षु नहीं जानता पर चक्षु उसीका शरीर है और जो चक्षुके भीतर प्रवृत्ति निवृत्तिरूप नियमन करता है वही तेरा अन्तर्यामी आत्मा है और अमृत है। यहां चक्षुमें रहनेवाले आत्माको चक्षुसे भिन्न कहा है इससे मालूम होता है कि उसी भिन्नकी उपासना कही गयी है। (अन्तरधिकरणं समाप्तम्)

आकाशस्तल्लिङ्गात्। १-१-२३।

आकाशः-आकाशशब्दवाच्य ब्रह्म ही है। तत्-उस ब्रह्मके लिङ्गात्-संपूर्ण संसारके एक कारण एवम् सबसे श्रेष्ठ होना तथा सबका परायण आदि परमात्माके लक्षणोंका आकाशमें विधान करनेसे।

छान्दोग्य उपनिषद् सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैतेभ्यो ज्यायान् १-९-१-में जो यह कहा है कि संपूर्ण भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं तथा आकाशमें ही लय होते हैं, यह सबसे बड़ा है, यही सबका परायण है, यह आकाश ब्रह्मका ही वाचक है, क्योंकि ब्रह्मके धर्मोका इस आकाशमें होना सिद्ध किया है, ब्रह्मके असाधारण धर्म भूताकाशके नहीं हो सकते हैं (आकाशाधिकरणं समाप्तम्)

अत एव प्राणः। १-१-२४।

अतएव-इसी तरह ही प्राणः-प्राणशब्दवाच्य भी ब्रह्म है।

छान्दोग्य उपनिषद्के १-११ में सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जहते उषस्तिचाक्रायणने कहा हैकि सब भूतोंकी प्राणमें ही लय और प्राणसे ही उत्पत्ति होती है,सो प्राणशब्दवाच्य परमात्मा ही है आकाशशब्दवाच्य परमात्माकी तरह, क्योंकि परमात्माके सिवा दूसरेसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हो नहीं सकते। (प्राणाधिकरणं समाप्तम्)

ज्योतिश्चरणाभिधानात्। १-१-२५।

ज्योतिः-ज्योतिशब्दसे ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि चरणाभिधानात्-पहिले वाक्यमें कहा है कि चारचरणवाला ब्रह्म है,अमृत तीन चरण दिवमें तथा एक चरणसे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति कही है इससे मालूम होता है कि ज्योतिशब्दवाच्य ब्रह्म है। छा०-३-१३-७ अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिद मस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः-इसके अन्तर जो इस दिवसे परे सब प्राणीवर्णसे ऊपर तथा सब मण्डलोंसे परे जो ज्योति दीप्त है वही इस पुरुषमें ज्योति है यह ज्योति कौन है इसपर व्यासदेवजीका यह सूत्र है कि वह ब्रह्म है क्योंकि गायत्रीप्रकरणमें कहा है कि पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि-एकपादसे या एकपाद सब प्राणीरूप तथा तीन अमृतपाद या दिवमें हैं। यहां उसी दिवसे परेकी ज्योतिके पाद विधान किये हैं इससे मालूम होता है कि यह ज्योति ब्रह्म है यही वैश्वानररूपसे उदरमें भी है।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात् तथा हि दर्शनम्। १-१-२६।

छन्दोऽभिधानात्-छान्दोग्योपनिषद् ३-१२में गायत्रीछन्दका अभिधान होनेसे न-चरणशब्दसे गायत्रीके चरणोंका अभिधान होता है परमात्माके अंश जीवका अभिधान नहीं है इति-ऐसा कहो

चेत्--तो न--नहीं कह सकते तथा--गायत्रीछन्दके समान ब्रह्ममें चेतः--चित्तके अर्पण-लगानेका निगमात्--निगम--वैदिकशब्द होनेसे । एवम् तथा--तैसा हि--ही दर्शनम्--देखा जाता है ।

छान्दोग्य उपनिषदने रूपकके तोरपर गायत्रीछन्दके साथ ब्रह्मकी सदृशता दिखाकर गायत्रीकी भावनासे उपासना करना बतलाया है । गायत्रीछन्दमें छः छः अक्षरके ४ पाद होते हैं इसी तरह ब्रह्मके भी १ भूत २ पृथिवी ३ शरीर और ४ हृदय ये चार पाद बताये हैं; गायत्री-छन्दके एक एक पादके छः छः अक्षरोंकी जगह, १ गान २ त्राण ३ सब भूतोंकी स्थिति ४ किसी भी भूतसे अतिक्रान्त न होना ५ सब प्राणियोंकी प्रतिष्ठा ६ प्राणापान एवं इन्द्रियोंकी प्रतिष्ठा ये छः उस ब्रह्मके पादोंके अक्षर कहे गये हैं । साथमें यह भी कहा है कि एकपादसे सब भूत तथा ज्योतिस्वरूप,तीनपाद इस समष्टिव्यष्टिरूप जगतसे परे हैं । इसमें पहिले तो ज्योतिके अर्थका निर्णय कर दिया है कि यहां ज्योतिसे ब्रह्म छोड़ किसी दूसरे पदार्थका ग्रहण नहीं हो सकता और गायत्रीके रूपकमें ब्रह्मकी उपासना की गयी है क्योंकि पूर्वमीमांसामें भी इस तरहकी बहुत उपासनायें कही गयी हैं ।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् । १-१-२७ ।

च--और भूतादिपाद व्यपदेश--सब कुछको गायत्री कहकर उससे जो भूत पृथिवी शरीर और हृदय पाद बनाये हैं वे विना--गायत्रीरूपसे ब्रह्मकी उपासना माने उपपत्तेः--संगत नहीं हो सकते इस कारण एवम्--जिस तरह ज्योति आदिका अर्थ हमने किया है वह ही ठीक है ।

विना गायत्रीके रूपकसे ब्रह्मकी उपासना माने केवल गायत्री छन्दके माननेमें उसके पाद भूत आदिक नहीं बनाये जा सकेंगे, इसलिये ज्योतिको ब्रह्म तथा गायत्री रूपसे ब्रह्मकी उपासना ही माननी चाहिये ।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् । १-१-२८ ।

उपदेशभेदात्--छा०--३--१२--६ में दिवि--यहां दिव् शब्दसे अधिकरणमें सप्तमी की गयी है तथा ३--१३--७ में परो दिवः यहां दिवसे अवधिमें पंचमी है यह सप्तमी और पंचमीके उपदेश-का भेद होनेसे न--दिवसे परे ज्योतिरूप है यह नहीं विदित होता इति--ऐसा कहो चेत्--तो न--नहीं कह सकते उभयस्मिन्--दोनोंही निर्देशोंमें अविरोधात्--कोई विरोध न होनेसे ।

चाहे तो वृक्षके अग्रमें बाज है ऐसा कह दो और चाहे वृक्षसे परे श्येन है ऐसा कह दो दोनोंमें ही वृक्षसे परे श्येन है यह निश्चित होता है, इसी तरह चाहे दिवसे परे कह दो और चाहे दिवके ऊपर कह दो एक ही तात्पर्य है, कोई अन्तर नहीं है इस लिये दिवसे परे ब्रह्म है यह सिद्ध हो गया है (ज्योतिरधिकरणं समाप्तम् ।

प्राणस्तथाऽनुगमात् । १-१-२९ ।

प्राणः--प्राण और इन्द्रशब्दवाच्य परमात्मा है तथा--पूर्वापरके विचारसे इन शब्दोंका यही अर्थ अनुगमात्--अनुगत होता है ।

कौपीतकि उपनिषद् अध्याय तीनमें प्राण और इन्द्रशब्दका परमात्मा अर्थ पूर्वापरके पर्य्यालो-चनसे होता है । दैवोदासि प्रतर्दन अपनी विद्या और पुरुषार्थसे इन्द्रके प्यारे लोकमें पहुंच गया, इन्द्रके वरदानके लिये आग्रह होनेपर प्रतर्दनने इन्द्रसे कहा कि जो आप मेरे लिये कल्याणकारी

समझते हो सो अपने आप ही देनेकी कृपा कर दो, तब इन्द्रने कहा कि सत्य ही इन्द्र है सो मुझ इन्द्रकर ही ज्ञान प्राप्त करो यह मैं मनुष्यके लिये कल्याणकारी समझता हूँ, मैंने विश्वरूपको मारा तथा और भी बड़े २ असुरोंका मैंने ही संहार किया है । मुझे जो जान लेता है वह निष्पाप हो जाता है, प्रज्ञात्माप्राण मैं ही हूँ । इस प्राणमें यह सन्देह होता है कि इन्द्र प्राणशब्दसे कहा हुआ परमात्मा है या इन्द्र कोई जीवविशेष है; परस्परके संवादसे यह निश्चय हुआ था कि जीव है इसलिये भगवान् वेदव्यासने कह दिया है कि इन्द्र और प्राणशब्द वाच्य परमात्मा है, कोई भी जीवविशेष नहीं है ।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् । १-१-३० ।

वक्तुः–वक्ताकी आत्म-आत्माका उपदेशात्–उपदेश होनेके कारण इति-इन्द्र और प्राणशब्द परमात्माके वाचक नहीं हैं ऐसा कहो चेत्-तो न–नहीं कह सकते । अस्मिन्–इस आत्मामें अथवा इस प्रकरणमें हि–निश्चयके साथ अध्यात्मसम्बन्ध–आत्माका संबन्ध अथवा परमात्माके असाधारण धर्मोंका सम्बन्ध भूमा–अधिक है ।

वक्ता इन्द्रने अपना उपदेश दिया है कि मुझे जान और यह भी कहा है कि तीन शिरवाले त्वाष्ट्रका मारनेवाला मैं ही हूँ । इस तरह वक्ता इन्द्रका उपदेश होनेके कारण इन्द्र और प्राण-शब्दवाच्य परमात्मा नहीं ऐसा नहीं कह सकते; कारण इस प्रकरणमें परमात्माके असाधारण धर्मोंका सम्बन्ध अधिक है ।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् । १-१-३१ ।

वामदेववत्–जिस तरह वामदेव, ब्रह्मको सर्वान्तर्यामी तथा सबको ब्रह्मका शरीर मानकर और शरीरमें सबका पर्य्यवसान देखता हुआ तथा अपना आत्मा जिसका शरीर है ऐसे परब्रह्मका निर्देश करके कहा है कि मैं सूर्य्य हुआ, मैं मनु हुआ, कक्षीवान् भी मैं ही हुआ यह शास्त्र-दृष्टिसे कहा है; उसी तरह शास्त्रदृष्ट्या–शास्त्रदृष्टिसे तु–तो उपदेशः–इन्द्रका भी उपदेश है कि मेरी उपासना कर मुझे जान ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् । १-१-३२ ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्–कौ०–३–८ में कहा है कि वाणीको क्या जाने वाणीके वक्ताको जानना चाहिये, यह वागादि करणोंको अध्यक्ष जीवका ज्ञापक होनेसे तथा कौ० ३–३में शरीर धारणारूप मुख्य प्राणका ज्ञापक होनेसे, न–इस प्रकरणमें अध्यात्म सम्बन्धकी अधिकता नहीं इति–ऐसा कहो चेत्–तो न–नहीं कह सकते क्योंकि उपासात्रैविध्यात्–तीन तरहकी उपासनाका उपदेश देनेके लिये सबके कारणभूत ब्रह्मको इन्द्र प्राण आदि शब्दसे कहा गया है वह तीन तरहकी उपासना यह है ब्रह्मके स्वरूपसे ब्रह्मका अनुसन्धान पहिली उपासना है, भोक्तृ वर्ग जो ब्रह्मके शरीर भूत हैं उनसे ब्रह्मका अनुसन्धान करना दूसरे तरहकी उपासना है, भोग्य और भोगको ब्रह्मका शरीर मानकर जो ब्रह्मकी उपासना है वह तीसरे तरहकी उपासना है इस कारण इन्द्र और प्राण शब्दसे परमात्माकी उपासना कही है । आश्रितत्वात्–यह तीनों तरहकी उपासना और भी प्रकरणोंमें देखी

जाती है। तै०-ब्रह्मानन्दवल्लीमें जो कहा है कि, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म-यह ब्रह्मके स्वरूपका अनुसन्धान है इसका अर्थ है कि सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और अनन्त यानी अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। २-६ में इसको रचकर इसीमें अनुप्रविष्ट हुआ और सत् और त्यत् हुआ यह दूसरे तरहकी उपासना है और सत्-त्यत् आदिमें तीसरे तरहकी उपासना है इह-इस कौषीतकिके प्रकरणमें भी तद्योगात्-इन तीनों तरहकी उपासनाका योग देखा जाता है।

पूर्वोक्त कारणोंसे प्रतीत होता है कि-प्राण और इन्द्र शब्द निर्दिष्ट परमात्मा है दूसरा कोई नहीं है, पूर्वोक्त तीन तरहकी उपासना होती है, वही इस दिवोदासि और इन्द्रके भी प्रकरणमें हैं। (समाप्तमिदं प्राणाधिकरणम्)

इति पं०-माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् । १-२-१ ।

सर्वत्र-छा०-३-१४-१में सर्वं खल्विदं ब्रह्म-यह जो श्रुति कहती है इसका अर्थ यह है कि सर्वम्-सर्वत्र यानी सब संसारमें इदम्-यह,ब्रह्म-परमात्मा,खलु-ही उपास्य है.क्योंकि प्रसिद्धोपदेशात्-तज्जलानिति उस ब्रह्मसे पैदा एवं उसीमें लय तथा उसीमें स्थित अथवा जीवित यह संसार है इस उत्पत्ति स्थिति एवं पालनसे प्रसिद्ध परमात्माका ही उपदेश होता है।

सब संसारमें ब्रह्मके सिवा कोई दूसरे जीव आदिकी उपासना छा०-१-१४-१ की श्रुति नहीं कहती क्योंकि श्रुतिमें उपास्यके साथ तज्जलानिति लगा हुआ है।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च । १-२-२ ।

च-और विवक्षितगुण-इससे अगाड़ी छा०-२-१४-२में सत्यसंकल्प आदि गुण कहेंगे उनकी उपपत्तेः-ब्रह्ममें ही उपपत्ति हो सकती है।

ब्रह्मको कहा गया है कि, विवेककी सहायतासे विशुद्ध मन ही ग्रहण कर सकता है, जीवात्मा ही जिसका अंश है, स्वयं अप्राकृत तेजोरूप है; सत्यसंकल्प एवं आकाशवत् सूक्ष्म तथा स्वच्छ शरीर है। ये गुण सर्वत्रोपास्य ब्रह्ममें विधान किये हैं सो सिवा ब्रह्मके दूसरेमें नहीं घट सकते यही बात सूत्र अपने मुहँसे खुलासा कहैगा कि,

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः । १-२-३ ।

अनुपपत्तेः-मनोमयादि गुणोंकी असंकलना होनेसे तु-तो शारीरः-जीव न-सर्वत्रोपास्य नहीं है।

मनोमयादिक गुण, जीवमें नहीं घट सकते इस लिये सर्वं खल्विदं में जीवकी उपासना नहीं कही है। श्रुतिका अर्थ तो हम पहिले कह चुके हैं इस लिये इसका यहां अर्थ नहीं किया है।

कर्म्मकर्तृव्यपदेशाच्च । १-२-४ ।

च-और छा०-३-१४-३ में कहा है कि एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि-इस लोकसे जाकर इस मनोमय आदि गुणवाले ब्रह्मको प्राप्त करूंगा इसमें कर्म्म-ब्रह्मको कर्म्म यानी जीवका प्राप्तव्य और कर्तृजीवको कर्तृ यानी प्राप्तिके कर्ताके रूपसे व्यपदेशात्-निर्देश किया गया है।

जीवको प्रापक और मनोमयादि गुणवाले ब्रह्मको प्राप्त करने योग्य कहा गया है इससे मालूम होता है कि सर्वत्र ब्रह्मकी ही उपासना विहित है ।

शब्दविशेषाच्च । १-२-५ ।

छा०-३-१४-३में कहा गया है, कि एष म आत्माऽन्तर्हृदये-यह मेरा आत्मा हृदयमें है यहां जीवात्मवाचक (मे) षष्ठी विभक्ति तथा परमात्मवाचक आत्मा प्रथमानिर्दिष्ट है, ये जीव और परमात्मा दोनों शब्दविशेषसे कहे गये हैं इस लिये मनोमयादि गुणोंसे जीवकी उपासना नहीं, किन्तु ब्रह्मकी ही है.।

स्मृतेश्च । १-२-६ ।

च-और स्मृतेः--गीता भी जीवको उपासक और ब्रह्मको उपास्य बता रही है "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमापोहनं च " इत्यादि गीतामें कहा है, कि मैं सबके हृदयोंमें बैठा हुआ हूँ, मेरेसे ही स्मृति ज्ञान आदि होते हैं, जो इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सब भावोंमें मुझे भजता है । यहां जीवको उपासक और ब्रह्मको उपास्य कह दिया है ।

अर्भकौकस्त्वात् तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च । १-२-७ ।

अर्भकौकस्त्वात्-छोटेसे हृदयस्थानमें रहनेवाला होनेके कारण च-और तद्व्यपदेशात्--छा०-२-१४-३ में अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। यह मेरे हृदयमें रहनेवाला आत्मा व्रीहिसे सरसोंसे समासे और समाके चावलसे भी छोटा है इस श्रुतिमें,छोटेका निर्देश होनेके कारण न-वो ब्रह्म नहीं जीव है इति-ऐसा कहो चेत्-तो न-नहीं कह सकते एवम्-अणीयत्व आदि रूपसे यानी छोटेपनेसे निचाय्यत्वात्-उपासनाकरनेके योग्य होनेसे छोटेपनेका व्यपदेश किया गया है च-और व्योमवत्-वह छोटापना भी घटाकाशकी तरह कहा गया है एवम् अगाड़ी इसी श्रुतिमें ज्यायान् वा पृथिव्याः वह पृथिवीसे भी बडा है इत्यादिसे स्वाभाविक बड़ापना कह दिया है ।

उपासनाके लिये अणीयत्वका व्यपदेश किया गया है ऐसे ब्रह्मकी भी उपासना हो सकती है.।

सम्भोगप्राप्तिरिति चेत् न वैशेष्यात् । १-२-८ ।

सम्भोगप्राप्तिः—शरीरमें रहनेवाले जीवकी तरह शरीरमें रहनेवाले परमात्माको भी सुख दुःखोंकी प्राप्ति होगी, इति--ऐसा कहो चेत्—तो न- नहीं कह सकते क्योंकि वैशेष्यात्- मुण्डक-३-१ में जीवसे ईश्वरमें विशेषता बताई है कि अनश्नन् अन्यो ऽभिचाकशीति-ईश्वर विना भोगे प्रकाशता है, इस विशेषतासे ईश्वरमें भोग-प्राप्ति नहीं है । जीवकी तरह ईश्वर सुख दुःखादिका भोक्ता नहीं, यह जीवके साथ देहमें रहनेवाले ईश्वरमें विशेषता है (सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणं समाप्तम्).

अत्ता चराचरग्रहणात् । १-२-९ ।

चराचरग्रहणात्-कठ०--अस्य ब्रह्म च क्षत्रं च चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः १-२-२५ में कहा है कि जिसके ब्राह्मण और क्षत्रिय इससे उपलक्षित चर और अचर चावलोंके भातकी तरह खाजाता है एवम् सबका मारक मौत इसके भातका घृत है, इस श्रुतिमें चराचरके ग्रहणसे अत्ता-अत्ता यानी खानेवाला परमात्मा है दूसरा कोई भी नहीं है ।

सब संसारका संहर्ता विष्णुके सिवाय दूसरा कोई नहीं है क्योंकि चराचरका अत्ता सिवा इसके दूसरा कोई नहीं हो सकता ।

प्रकरणाच्च । १–२–१० ।

च–और प्रकरणात्–यह प्रकरण भी परमात्माका है जिसमें पूर्वोक्त श्रुति आयी है इससे भी अत्ता परमात्मा ही कहाया जा सकता है ।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।१–२–११।

हि–यह बात निश्चित है कि कठवल्ली गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे १–३–१ में जो कहा गया है कि गुहां प्रविष्टौ–गुहामें प्रविष्ट है यह दोनों आत्मानौ–जीव और ईश्वर है क्योंकि तद्दर्शनात् कठ०–तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् १–२–१२ में परमात्माका गुहामें प्रवेश सुना जाता है ।

हृदयरूपी गुहामें प्रविष्ट होकर जीव और ईश्वर दोनों बैठे हैं, जीव कर्मफलोंको भोगता है किन्तु कर्म विपाकसे निर्लेप ब्रह्म अपने प्रकाशसे जीवका उपकार करता है यह उदाहरण १–३–१ की श्रुतिका अर्थ है । १–२–१२ का अर्थ है कि ऐसे दुर्दर्श बुद्धिरूपी गुहामें बैठे हुएको जानकर हर्ष शोक छोड़ देता है ।

विशेषणाच्च । १–२–१२ ।

च–और इस प्रकरणमें जीव परमात्मा ही उपासक उपास्यादि रूपसे विशेषणात्–वशेषित करके कहे गये हैं इस लिये अत्ता परमात्मा है कठ०–ब्रह्मजज्ञं स्वमीक्ष्यं विदित्वा१–१–१७में कहा है कि ब्रह्मज औरज्ञ यानी ब्रह्मसे पैदा और स्वयं ज्ञ जीव अपनेको ब्रह्मांश रूपसे जानकर शान्त हो जाताहै यहां जीव कहा है तथा १–३–९ में भी जीवका निरूपण किया है तथा १–३–२ में उपास्य अक्षर ब्रह्मका निरूपण किया है तथा १–३–१ में दोनोंका ही निरूपण कर दिया है । वेद्यब्रह्मके प्रसंगमें अत्ताका निरूपण किया है इसलिये अत्ता परमात्मा ही है । (अत्रधिकरणं समाप्तम्)

अन्तर उपपत्तेः । १–२–१३।

अन्तरे–छा०–४–१५–१ में जो यह कहा गया है कि–य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते जो यह योगियोंको आंखोंके भीतर पुरुष दीखता है यह ब्रह्म है क्योंकि उपपत्तेः–जो छा०–४–१५–२–३ में जो सत्यसंकल्प आदि गुण कहे हैं वे ब्रह्ममें ही घट सकते हैं दूसरेमें नहीं ।

योगी पुरुषोंको आंखोंमें एक पुरुष दीखता है वह इतना निर्लेप रहता है कि आंखोंमें अंजन आदि भी नहीं छू सकते । वह तमाम कामनाओंको दूरी करता है तथा सब जगह उसीका प्रकाश है । ऐसा पुरुष सिवा ब्रह्मके दूसरा नहीं हो सकता यह हमें इस सूत्रने बताया है ।

स्थानादिव्यपदेशाच्च । १–२–१४ ।

च–और परब्रह्मका चक्षुमें यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो–बृ० ३–७–३ इत्यादिमें स्थानादि–स्थिति और नियमन करनेका, व्यपदेशात्–व्यपदेश यानी कथन होनेसे योगियों द्वारा नेत्रोंमें भी परमात्मा ही उपासनीय है वे उसीकी उपासना करते हैं ।

पृथिवी आदिमें तथा वाणी और चक्षु आदिमें ब्रह्मकी स्थिति और नियमनका निर्देश किया है इससे चक्षुके भीतर ब्रह्मकी ही उपासना कही गयी है । शंकराचार्य्यजी महाराजने आदिशब्दसे कहा है कि निर्गुण ब्रह्मका भी नामरूपगत गुणोंसे सगुण उपासनका प्रसंगगत उपदेश दिया गया है और

यह उचित है जैसे शालिग्राममें विष्णुकी भावना उचित है। शांकर भाष्यके सूत्रका पूरा भाव तो उसपर लिखतीवार ही देंगे।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च। १-२-१५।

च—यह भी एक हेतु आपके सामने उपस्थित किया जाता है जिससे व्यक्त होता है कि योगीजन आँखमें रहनेवाले परमात्माकी ही उपासना करते हैं। एव—यह है भी बिलकुल ठीक क्योंकि इससे पहिले सुखविशिष्टाभिधानात्—छा०—४—१०—४—जो ब्रह्मको, आकाशके समान सुख शरीर ब्रह्म है ऐसा विधान किया है।

पहिले जो आकाशकी तरह परिच्छेद सहित ब्रह्म है ऐसा विधान किया है उसीकी उपासना करनेके लिये चक्षु स्थान बता दिया है, पीछेको सब कामोंका पूरण करनेवाला एवम् सत्यसंकल्प कह दिया है।

अतएव च स ब्रह्म। १--२--१६।

च—और अतएव—सुखविशिष्ट आकाशका विधान किया गया है इस कारण सः—आकाशशब्दका वाच्य अर्थ ब्रह्म—ब्रह्म है।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च। १-२-१७।

च—यह भी एक हेतु योगीजनके उपासनीय नेत्रवर्ती पुरुषको ब्रह्म होनेका है कि अक्षिपुरुषके श्रोता उपकोशलके लिये श्रुतोपनिषत्क—उपनिषद् सुननेवालोंकी जो अर्चिरादिक गति—गति है उसका अभिधानात्—कथन किया गया है।

ब्रह्मज्ञानियोंकी जो अर्चिरादिमार्गसे गति है, उसे उपकोशलको समझाया गया है, इससे विदित होता है कि उपकोशलको ब्रह्मका उपदेश दिया गया है।

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः। १—२—१८।

अनवस्थितेः—आँखमें छायापुरुष तो सदा रह नहीं सकता च—और ब्रह्मको छोड़ दूसरेमें कहे हुए सत्यसंकल्पत्वादिक गुण असंभवात्—मिल नहीं सकते इस कारण इतरः—ब्रह्मसे जुदा दूसरा कोई भी आँखमें रहनेवाला न—नहीं हो सकता।

यद्यपि सामने बैठे हुएकी छाया भी आँखोंमें दीखा करती है परन्तु जब सामनेवाला पुरुष हठ जाता है कि आँखोंमेंसे भी उसका दीखना बन्द हो जाता है तथा जो 'आँखमें रहनेवाले पुरुषमें गुण बताये गये हैं वे गुण दूसरेमें मिल नहीं सकते, इस लिये आँखमें परमात्मा रहता है योगीजन उसकी उपासना करते हैं।

इस तमाम प्रकरणका सार यह है कि उपकोशल कामलायन सत्यकाम जाबालका ब्रह्मचारी हो कर १२ वर्ष तक अग्निसेवा करता रहा, पर सत्यकामने स्त्रीके कहनेपर भी उसका समावर्तन न करके बाहिरको प्रस्थान किया।

उसके पीछे उपकोशल अग्निशालामें बैठ गया और गुरुपत्नीके कहनेसे भी भोजन न किया। पीछे अग्नियोंने सलाह करके उसे उपदेश दिया। पीछे सत्यकामने सब कुछ मालूम करके उसे योगियोंके आराध्य नेत्रवर्ती पुरुषका उपदेश दिया है उसी पुरुषको ब्रह्म सिद्ध करनेके लिये यह

प्रकरण किया गया है । यह प्रकरण छा० ४ अध्यायके दशवें खण्डसे शुरू होकर १५ वे खण्डमें पूरा हुआ है (अन्तराधिकरणं समाप्तम्)

अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । १-२-१९ ।

अधिदैवाधिलोकादिषु—बृ०—३—७ में उद्दालक आरुणिने याज्ञवल्क्यजी महाराजसे पूछा है कि मैं मद्रदेशमें काप्यपतंजलके घरपर कल्पसूत्र पढतीवार ठहरा था एक दिन उनकी धर्मपत्नीको गन्धर्वने पकड़लिया, हमने उससे पूछा कि तुम कौन होते हो तो उसने हमें उत्तर दिया कि मेरा नाम तो कवन्ध है मैं अथर्वका पुत्र हूँ,फिर उसने हमसे और पतंजलसे पूछा कि क्या तुम उस अन्तर्यामीको जानते हो जो इस लोक और पर लोक एवं प्राणियोंको अन्तःप्रविष्ट यमन करता है ।

उन लोगोंने मने कर दिया और उस गन्धर्वसे पूछा है कि आप ही अन्तर्यामीको कहें, तब उसने ३—७—३से कहना आरम्भ किया और ३—७—२३तक यही विषय समझाया है उसी विषयमें यह सूत्र है । पृथिवी आदिक देवोंमें एवम् सब लोकोंमें तथा सब वेदोंमें, सब यज्ञोंमें, सब भूतोंमें अन्तर्यामी—भीतर यमनकरनेवाला परमात्मा है क्योंकि पूर्वोक्तोंके अन्तर्यामीमें तद्धर्मव्यपदेशात्—परमात्माके अमृतत्वादिक गुण हैं उनको उस अन्तर्यामीमें बताया गया है ।

देवभूतादिकोंके अन्तर्यामीमें ब्रह्मके गुण कहे गये हैं इसलिये इनका अन्तर्यामी ब्रह्म है वह दूसरा नहीं हो सकता ।

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाच्छारीरश्च । १-२-२० ।

च—और स्मार्तम्—सांख्यस्मृतिका कहा हुआ प्रधान च—और शारीर—जीव न—अन्तर्यामी नहीं हैं क्योंकि अतद्धर्माभिलापात्—अन्तर्यामीमें वे धर्म कहे गये हैं जो प्रधान और जीवमें किसी प्रकार भी नहीं घट सकते ।

सर्वद्रष्टा सर्वनियन्ता सबकी आत्मा परमात्मा है इसलिये अन्तर्यामी भी वही है, जीव अथवा प्रकृति नहीं हो सकते, क्योंकि जो अन्तर्यामीके गुण वहां बताये हैं वे ब्रह्मके सिवा दूसरेमें नहीं हो सकते ।

उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते । १—२—२१ ।

हि—निश्चयके साथ उभये—काण्व और माध्यन्दिन दोनों अपि—भी एनम्—इस जीवात्माको भेदेन नियम्यनियामकभेदसे अधीयते—पढ़ते हैं ।

काण्व और माध्यन्दिन दोनोंही जीवको नियम्य और अन्तयामी परमात्माको नियामक मानते हैं इसलिये अन्तर्यामी जीव नहीं है ।(अन्तर्याम्यधिकरणं समाप्तम्)

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः । १-२-२२ ।

अदृश्यत्वादिगुणकः—यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगात्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् मु०—१—५में जो अदृश्यपना, अग्राह्यपना आदि गुण कहे हैं वे परमात्माके गुण हैं उन गुणोंवाला परमात्मा है. क्योंकि धर्मोक्तेः—अदृश्यत्वादि गुणवालेमें सृष्टिका कर्तृत्व एवं सर्वज्ञत्व कहा गया है यह सिवा ब्रह्मके दूसरेमें मिल नहीं सकता ।

अदृश्यत्वादिक गुणवाला भी परमात्मा है क्योंकि सर्वज्ञ और सृष्टिका कर्तापना ब्रह्मके सिवाय दूसरेमें घट नहीं सकता ।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ । १-२-२३ ।

च-और भूतयोनि इतरौ-जीव और प्रधान नहीं हैं क्योंकि विशेषण-मु० २-१-२में जो दिव्य अमूर्तादि विशेषण किये हैं उससे भेद-और अव्याकृतसे पर जो कहा है इस भेद व्यपदेशात्-निर्देशसे किया है ।

भूतयोनिके जो विशेषण कहे हैं वे जीवमें नहीं घट सकते तथा अव्याकृतसे परे भूतयोनिको वताया है इसलिये भूतयोनि जीव और प्रधान नहीं हो सकते ।

रूपोपन्यासाच्च । १-२-२४ ।

च-और रूपोपन्यासात्-मु०-२-१-४ अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः इत्यादिमें अग्निको मूर्धा और चन्द्र सूर्यको नेत्र, दिशाओंको कान और वेदको वाणी कहकर रूपकी कल्पना की है उससे मालूम होता है कि भूतयोनि परमात्मा है । (अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणं समाप्तम्)

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् । १-२-२५ ।

वैश्वानरः-छा०-५-११-६ में जो वैश्वानरशब्द आया है वह परमात्माका वाचक है क्योंकि साधारणशब्दविशेषात्-साधारण वैश्वानर शब्दसे यहां विशेष लगा हुआ है ।

साधारणवैश्वानरशब्दके पीछे जो परमात्माके असाधारण धर्म लगा दिये हैं उनसे पता चलता है कि वैश्वानर परमात्मा है छा०-५-११-१से एक प्रसंग प्रारम्भ होता है और २४ पर यानी ५ वें अध्यायकी समाप्ति पर उसकी समाप्ति होती है । प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिस ये पांचों इकट्टे होकर विचार करने लगे कि आत्मभूत ब्रह्म कौन है ।

इन पांचोंने विचार किया कि आरुणि वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है चलो उससे उसकी उपासना पूछें । ये पांचों आरुणिके पास पहुँचे, आरुणि अपने साथ उन्हें अश्वपति कैकेयके यहां ले गया । कैकेयसे उन्होंने कहा कि आप वैश्वानर आत्माकी उपासना करते हैं इसलिये हमें आप उसकी उपासना बतावें । उन्होंने उपचारके साथ उपदेश सुना और अश्वपतिने सुनाया । इस वैश्वानर शब्दपर सूत्रकार कहते हैं कि वैश्वानरशब्द परमात्माका वाचक है अथवा वैश्वानर परमात्मा है क्योंकि वैश्वानरको परमात्माके धर्मोंसे निर्देश किया है तथा आत्मा कहा है कि वैश्वानर आत्माका स्वाध्याय करता है ।

स्मर्य्यमाणमनुमानं स्यादिति । १-२-२६ ।

स्मर्य्यमाणम्-दिवको वैश्वानरका मूर्धा एवम् आदित्यको चक्षु तथा वायुको प्राण और आकाशको मध्यकाय, जलको रवि और पृथिवीको पाद कहकर स्मरण किया है । यह वैश्वानर परम पुरुष है इस विषयमें अनुमानम्-अनुमान हेतु स्यात्-है इति-ऐसा वैश्वानरका रूप वैश्वानरको परमात्मा होना सिद्ध करता है ।

छा०-में इसी प्रकरणमें दिव आदिको वैश्वानरका मूर्धा आदि बताया गया है इसे परमात्मा होना सिद्ध करता है ।

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते । १–२–२७ ।

शब्दादिभ्यः–शतपथ ब्रा० १०–६–१–११ में अग्निको वैश्वानर कहा है एवम् छान्दोग्यके इसी प्रकरणमें कहा है कि आदेशमात्र वैश्वानर आत्माके उपासकके शिर आदि उस वैश्वानर आत्माके ही शिर आदि हैं उस उपासकके उर, लोम, हृदय, मन और मुँह क्रमसे वेदि, बर्हि गार्हपत्य अन्वाहार्यपचन, आहवनीय हैं, प्राणाहुति अग्निहोत्र है इस अग्निहोत्रसे वैश्वानरकी उपासना की जाती है । इससे च–और अन्तःप्रतिष्ठानात्–इस वैश्वानरको शरीरमें रहनेवाला वा भीतर प्रतिष्ठित कहा गया है इस कारण न–वैश्वानर परमात्मा नहीं है इति–ऐसा कहो चेत्–तो न–नहीं कह सकते तथा दृष्ट्युपदेशात्–क्योंकि त्रैलोक्यशरीर वैश्वानरपरमात्माका जठराग्निरूपसे उपदेश दिया गया है क्योंकि असंभवात्–अकेला जठराग्नि त्रिलोकशरीरवाला नहीं हो सकता । इसके सिवाय यह भी बात है कि एके–वाजसनेयी शाखावाले एनम्–इस आत्माको पुरुषम्–पुरुष अपि–भी अधीयते–पढ़ते हैं ।

प्राणाहुतिके प्रकरणमें जठराग्निकी वैश्वानरदृष्टिसे उपासना की गयी है तथा " प्राणाय स्वाहा " आदिसे उसीमें भोजनसे पहिले वैश्वानर रूप जठराग्निमें हवनकी दृष्टिसे पांच ग्रास खाये जाते हैं ।

अत एव न देवता भूतं च । १–२–२८ ।

अत एव–इस कारण ही वैश्वानरशब्द देवता–देवता च–और भूतम्–भूताग्निका वाचक नहीं है ।

पूर्वोक्तकारणोंसे वैश्वानरशब्द अग्निदेवता एवं अग्निभूतका वाचक नहीं है ।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः । १–२–२९ ।

जैमिनिः–जैमिनि आचार्य्य यह मानते हैं कि साक्षाद्–साक्षात्–खुद अग्नि या जठराग्नि शब्दको अपि–भी–ब्रह्मवाचक माननेमें अविरोधम्–कोई विरोध नहीं है। वैश्वानर शब्दकी तरह अग्निशब्द भी खुद ही परमात्माका कहनेवाला है । इसमें कोई भी विरोध नहीं, ऐसा जैमिनि आचार्य्य मानते हैं ।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । १–२–३० ।

आश्मरथ्यः–आश्मरथ्य आचार्य्य इति–यह मानता है कि, अभिव्यक्तेः–उपासकोंके लिये प्रादेशमात्र परमात्मा अभिव्यक्त होता है ।

उपासक लोग दिवआदिको मूर्धा आदि मानकर परमात्माकी उपासना करते हैं, अथवा नाभिसे द्वादश अंगुल हृदयमें वसनेवाले परमात्माकी उपासना करते हैं यह अर्थमें भागवतके 'केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्' इसकी ओर दृष्टि चले जानेसे अनायास स्मृत हुआ है। पूर्वोक्त उपासना जाठरमें वैश्वानर तथा बाकी शरीरके अंगोंमें तत् तद् दृष्टिसे की गयी है ।

अनुस्मृतेर्बादरिः । १-२-३१ ।

बादरिः--बादरि आचार्य्य तो ऐसा मानते हैं कि अनुस्मृतेः--उपासनाके समयमें हृदयमें प्रतिष्ठित इसको मन प्रादेशमात्रसे स्मरण करता है इस कारण प्रादेशमात्र कहा हुआ वैश्वानर आत्मा परमात्मा है ।

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति । १-२-३२ ।

जैमिनिः--जैमिनि आचार्य्य तो इति--ऐसा मानते हैं कि सम्पत्तेः--दिवसे लेकर पृथिवीतक शरीरवाले वैश्वानरकी उपासनाके लिये की गयीं प्राणाहुतियोंको अग्निहोत्र सिद्ध करनेके लिये उर आदिको वेदी आदिकी कल्पना की गयी है । तथाहि--प्राणाहुति करनेवालेको परमात्माकी उपासनाका फल जो है सो श्रुति दर्शयति--दिखाती है कि इस प्रकार जानकर जो विद्वान् प्राणाहुति करता है वह उसका सब प्राणियोंमें हवन हो जाता है ।

आमनन्ति चैनमस्मिन् १-२-३३ ।

च--और अस्मिन्--इस उपासकके शरीरमें एनम्--दिवके शिरवाले वैश्वानरको आमनन्ति--मानते हैं ।

वैश्वानरका जैसा रूपक कहा गया है उसकी कल्पना उपासकके शरीरमें किया करते हैं ।

(समाप्तं श्वानराधिकरणम्)

इति पं. माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् । १-३-१ ।

द्युभ्वाद्यायतनम्--मु०--२--२--५ में जो कहा गया है कि--जिसमें दिव पृथिवी अन्तरिक्ष ओत है यह परमात्मा है दूसरा कोई नहीं । क्योंकि--स्वशब्दात्--उसी श्रुतिमें दिव पृथिवी एवं अन्तरिक्षके आयतनको अमृतके सेतुशब्दसे निर्देश करते हुए ब्रह्म ही कह दिया है ।

स्वर्ग पृथिवी आदि जिसमें स्थित हैं वह ब्रह्म है यह श्रुतिके ही शब्दोंसे सिद्ध होता है । मु०--२--२--५ यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथाऽमृतस्यैष सेतुः--यस्मिन्--जिसमें, द्यौः--दिव, च--और पृथिवी एवं अन्तरिक्ष च--और सर्वैः--सब, प्राणैः--प्राणोंके, सह--साथ, मनः--मन, ओतम्--समवेत अथवा स्थित हैं, तम्--उस, एव--ही, एकम्--एक, आत्मानम्--आत्माको, जानथ--जानो, अन्याः--दूसरी, वाचः--बातोंको, विमुञ्चथ--छोड़ दो, अमृतस्य--मोक्षका, एषः--यह आत्मा, सेतुः--प्रापक है ।

इस श्रुतिमें उसी एक आत्माको जानो ऐसा कहनेमें सन्देह होता है कि आत्मशब्दसे दोनोंका ग्रहण होता है जीवका और ईश्वरका भी यहां किस आत्माको दिव पृथिवी और आकाशका आयतन मानें ।

उसका उत्तर सूत्रकारने दे दिया है कि उस आत्माको श्रुतिने मोक्ष--प्रापक कहा है, इस लिये परमात्माका ही आत्मशब्दसे ग्रहण होगा, जीवमें मोक्ष प्रापकता नहीं है । वही ब्रह्म दिव भू आदिका आयतन है उसी आयतनको श्रुतिने अमृतका सेतु कह दिया है ।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च । १--३--२ ।

च—यह और हेतु पूर्वोक्त श्रुतिमें कहे हुए, द्यु भू आदिके आयतन आत्माको परमात्मा होनेका है कि, इस मुण्डकके ३—१—३ की श्रुतिमें मुक्त—मुक्त पुरुषोंका उपसृप्य—प्राप्तव्य परमात्माको व्यपदेशात्—कहा गया है ।

मुण्डकोपनिषद् ३—१—३ में कहा है कि जब यह जीव, स्वयंभू तेजरूप सृष्टिके कर्ता पुरुषोत्तमको देख लेता है उस समय इसके पापपुण्य छूट जाते हैं एवम्—पापपुण्योंके छूट जानेपर निरंजन अर्थात् नामरूपसे मुक्त हो जाता है । इसके बाद परब्रह्मके साथ परम साम्य प्राप्त करता है। श्रुतिके लिखनेमें विस्तार होता इस लिये उसके नम्बर देकर उसका भाव लिख दिया है । इस श्रुतिमें दिव, भू, अन्तरिक्ष आदिके आयतन पुरुषोत्तमको मुक्तपुरुषोंका भी प्रापणीय कहा है इससे मालूम होता है कि पूर्वोक्तोंका आयतन परमात्मा ही है न तो मुक्त जीव हैं और न बद्ध जीव ही है ।

दिव और भूलोक आदि जिसमें प्रतिष्ठित हैं वह ब्रह्म है क्योंकि श्रुतियोंने इसे मुक्त पुरुषोंको भी प्राप्त करने लायक कहा है ।

नानुमानमतच्छब्दात् प्राणभृच्च । १--३--३ ।

अतच्छब्दात्—प्रधानमें कोई श्रुति प्रमाण न होनेके कारण अनुमानम्—सांख्यमतानुयायियोंका अनुमानसे प्रतिपाद्य प्रधान दिव भूके आयतनसे न—नहीं कहा गया है च—और प्राणभृत्—जीव भी नहीं कहा गया ।

श्रुतियोंने आकाशआदिको आयतन जीवको नहीं कहा एवम् अनुमानप्रतिपाद्य प्रधानको भी नहीं कहा है इस लिये ये दोनों आयतन नहीं हैं ।

भेदव्यपदेशात् । १--३--४ ।

मु. ३—१—२ में लिखा है कि—समान वृक्षपर निमग्न पुरुष प्रकृतिसे मुग्ध हो असमर्थ होके शोक करता है, जब अन्य ईश्वरकी महिमाको देख लेता वा जान लेता है तो शोक रहित होजाता है इत्यादि श्रुतियोंमें जीव और ईश्वरका भेद प्रतिपादन किया है, इससे मालूम होता है कि पृथिवी आदिका आयतन ईश्वरके सिवा दूसरा कोई भी नहीं है ।

मु० ३—१—२ की श्रुति भी लिखे देते हैं इसका भाव तो इसके नम्बर देकर लिख चुके हैं । **समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥**

प्रकरणात् । १--३--५ ।

मु. की पाँचवीं श्रुतिसे प्रकरणही परमात्माका चल रहा है इसमें दूसरेका प्रसंग ही कैसे आ सकता है ।

स्थित्यदनाभ्यां च । १--३--६ ।

च—ये और हेतु पृथिवी आदिके आयतनको परमात्मा कहनेके हैं स्थित्यदनाभ्याम्-कि मु.३—१—१ में जीवको शरीरमें रहकर कर्मफलका भोक्ता एवम् ईश्वरको कर्मफलके साथ भोगसंबन्ध न रखते हुए भी प्रकाश करते हुए शरीरमें रहनेवाला कहा है। इस स्थिति और भोगसे श्रुतिने ईश्वरकी

शरीरमें स्थिति कही । एवम् जीवको कर्मफलका भोक्ता कहा है । कर्मफलोंका भोक्ता एवं शोक करनेवाला जीव, जमीन आसमानके ठहरनेकी जगह नहीं हो सकता । द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति—यह उदाहृत मुण्डक ३–१–१ की श्रुति है । साथ रहनेवाले तथा एक नामवाले दो पक्षी एक ही शरीररूपी बैठें हुए हैं उनमें एक तो अवश्य भोक्तव्य कर्मफलको भोगता है दूसरा विना भोगे ही सबमें प्रकाश कर रहा है यह इस श्रुतिका अर्थ है । (द्युभ्वाद्यधिकरणं समासम्)

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् । १–३–७ ।

भूमा—छा–७–२३ में आया हुआ भूमाशब्द ब्रह्मका ही बोधक है । क्योंकि संप्रसादात्—छा–८–३ में आया हुआ संप्रसादशब्द सुषुप्तिस्थानका वाचक होकर सुषुप्तिके संबन्धसे जीवका उपलक्षक है तब इसका अर्थ हुआ कि जीवसे अधि—अधिक भूमगुणयुक्त ब्रह्मका उपदेशात्—उपदेश दिया गया है।

जीवसे अधिक विपुलगुणयुक्त ब्रह्मका उपदेश दिया गया है इस कारण भूमा ब्रह्म है । छा०–उ०का सातवां अध्याय आदिसे अन्ततक, नारदजी महाराज और दिव्यज्ञानी सनत्कुमारके ही संवादसे ओत प्रोत है । सनत्कुमारने सुखका उपदेश देकर भूमगुणविशिष्ट ब्रह्मका उपदेश दिया है पर—भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः—भूमा ही तो जानने योग्य है, इतनाही कहकर रह गये हैं इसमें साधारणबुद्धिवालोंको यह सन्देह हो सकता है कि भूमासे जीवकी ओर लक्ष्य किया वा परमात्माकी ओर इसी निश्चयके लिये यह सूत्र किया गया है ।

बहुशब्दसे इमनिच् प्रत्यय होकर भूमाशब्द बना है, जिसका बहुत्व यानी वैपुल्य अर्थ है, यह वैपुल्य भी गुणोंका उत्कर्षमात्र ही गृहीत है पर अल्पशब्दके मुकाबिलेमें इसका प्रयोग करनेसे इसका अर्थ विपुलगुणोंका उत्कर्षवाला हो जाता है । इसीको अखण्ड सुखरूप सनत्कुमारने कहा है । ऐसा जीव नहीं हो सकता (किसी भी दशामें)

धर्मोपपत्तेश्च । १–३–८ ।

च—और भूमामें जो धर्म कहे हैं उन सब धर्मोपपत्तेः—धर्मोंकी उपपत्ति भी ब्रह्ममें ही हो सकती है दूसरेमें नहीं ।

सनत्कुमारजीने ब्रह्माजीको जो भूमाके गुण समझाये हैं वे गुण सिवा ब्रह्मके दूसरोंमें नहीं मिल सकते इस लिये भूमा ब्रह्म है । सर्वोत्कर्षशालीगुण ब्रह्ममें ही मिलते हैं । (भूमाधिकरणं समासम्)

अक्षरमम्बरान्तधृतेः । १–३–९ ।

अक्षरम्—बृह०–३–८–९में अक्षरशब्दसे ब्रह्मका निर्देश किया गया है क्योंकि विना ब्रह्मके,अम्बरान्तधृतेः—आकाशका अन्त यानी अव्याकृतका धारण दूसरा कोई नहीं कर सकता ।

गार्गीने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा है कि अव्याकृत आकाश किसमें ओत प्रोत है यह सुनकर याज्ञवल्क्य बोले कि जो आपने पूछा है वह सब वेदान्तोंमें प्रसिद्ध है उसे अक्षर कहते हैं । साथ ही अक्षरकी प्रशंसा भी याज्ञवल्क्यजीने की है । उस प्रशंसाके साथ साथ कहा है कि एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ—इस अक्षरके शासनपर ही हे गार्गि ! सूर्य्य और चांद विधृतौ तिष्ठतः—विधृत ठहरे हुए हैं यह शासन ब्रह्मके सिवा दूसरेका नहीं,इसीलिये अक्षरका अर्थ ब्रह्म है और कुछ नहीं । (अक्षरशब्दका अर्थ ब्रह्म है क्योंकि इस अक्षरके आधारपर लोकाकाशका अन्त जो अव्याकृत आकाश है वह है)

सा च प्रशासनात् । १-३-१० ।

च-और सा-अव्याकृत आकाशका धारण भी प्रशासनात्-अक्षरकी आज्ञासे ही हो रहा है क्योंकि बृ०-३-८-९में प्रशासनशब्दका उपदेश दिया है उससे यह मालूम होता है ।

(अव्याकृत आकाशका धारण इस अक्षर ब्रह्मके प्रशासनसे होता हैं इसकारण अक्षर ब्रह्म है)

अन्यभावव्यावृत्तेश्च । १-३-११ ।

च-और अन्यभावव्यावृत्तेः-दूसरे पदार्थोंका निषेध कर देनेसे और प्रधान तथा जीवात्माके भावका निषेध कर दिया गया है इस कारण अक्षरका अर्थ परमात्मा है ।

गार्गीने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा है कि आकाश किसमें ओत प्रोत है इसके जबावमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि वह अव्याकृत आकाश अर्थात् जहां इस भूताकाशका अन्त होता है वह अक्षरमें समवस्थित है । वह अक्षर स्थूल और सूक्ष्म दोनोंसे ही भिन्न है न ह्रस्व है और न दीर्घ ही है न उसमें छिद्र हैं और न उसके इन्द्रियां हीं हैं इत्यादि कहकर कहा है कि इस अक्षरके शासनपर ही सबका धारण हो रहा है ।

इसके पीछे इस अक्षरको विना जाने हुए मरनेवालोंको कृपण कह अक्षरसे अन्यका निषेध किया है कि नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ उससे भिन्न कोई देखनेवाला सुननेवाला विचार करनेवाला और जाननेवाला नहीं है वही देखने, सुनने, विचारने एवं जाननेवाला है इन कामोंका करनेवाला अचेतन यानी चैतन्यशून्य जड़ प्रधान नहीं हो सकता है । तथा-अदृष्टं द्रष्टृ, अश्रुतं श्रोतृ, अमतं मन्तृ, अविज्ञातं विज्ञातृ-जिसे कोई नहीं देख रहा है, पर वह सबको देख रहा है । तथा जिसे कोई कर्णगोचर नहीं कर रहा है वह सबको कर्णगोचर किये हुए है । जो किसीका मनन किया हुआ नहीं है वह सबको मनन किये बैठा है । उसे कोई नहीं जानता वह सबको जानता है ।

जीव ऐसा नहीं है कि उसे कोई न देखता हो और वह सबको देखता हो और ऐसा ही है कि वह किसीका सुना विचारा जाना न हो और वह सबको जानता हो इस कारण अक्षरशब्दका वाच्य वा अक्षर जीव भी नहीं है ।

ये जीव और प्रधान दोनोंकी निवृत्ति कर दी गयी है इससे अक्षर ब्रह्म है यह परिस्फुट प्रतीत होता है । (अक्षराधिकरणं समाप्तम्)

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः । १-३-१२ ।

ईक्षतिकर्म-प्र-५-५ में कहे हुए ईक्षतिका कर्म सः-पुरुषोत्तम है दूसरा कोई नहीं है क्योंकि व्यपदेशात्-श्रुतिने परमात्माका ही ईक्षतिके कर्मसे निर्देश किया है ।

स एतस्माज् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते-यह प्रश्नोपनिषद् ५-५ की श्रुति है इसका अर्थ यह है कि सः-वह परब्रह्मवाची तीन मात्रिक प्रणवकी उपासना करनेवाला साधारण जीवोंसे पर जो यह हिरण्यगर्भ है उससे भी पर जो परब्रह्म है उसका दर्शन करता है यह इसका अर्थ है ।

इसीके अर्थ करनेके लिये यह सूत्र किया गया है क्योंकि इसमें यह सन्देह होता था कि इस जीवसे परे सब जीवोंके अधिपति चतुर्मुखका तो ग्रहण नहीं होता है । इस सूत्रने निश्चय कर दिया है कि ईक्षतिका कर्म ब्रह्म है और कोई नहीं है ।

ईक्षति यानी दर्शनका कर्म अर्थात् जो देखा जाता है वह परमात्मा है उसीको ऐसा कहा गया है कि जीव जाकर उसके दर्शन करता है । (ईक्षतिकर्माधिकरणं समाप्तम्)

दहर उत्तरेभ्यः । १–३–१३ ।

दहरः–छा–८–१–१ में जो दहरशब्द आया है वह परमात्माका वाचक है क्योंकि उत्तरेभ्यः– छा–८–५ में कहा है कि यह दहर आत्मा, सुकृत, दुष्कृत, मरण, शोक, बुभुक्षा और पिपासासे रहित है तथा सत्यकाम और सत्यसंकल्प है ।

छा–८–६ में कहा है कि जो इस आत्मा और इन सत्यकामोंको विना जाने इस लोकसे गमन करते हैं वे परतन्त्र रहते हैं ।

जो इस आत्माको एवम् इन सत्यकामोंको जानकर गमन करते हैं वे सब लोकोंमें स्वतन्त्र रहते हैं ।

छा–८–२–इस प्रकार जानकर मुक्त हुआ पुरुष जिस कामकी कामना करता है वह उसके संकल्पसे ही उपस्थित हो जाता है ।

इनसे प्रतीत होता है कि दहराकाश ब्रह्म है यदि उसे भूताकाश कहें तो वह हृदय जितना जमीन आसमानका आधार नहीं हो सकता ।

(छा–८–१–१ में आया हुआ दहर ब्रह्म है यह इस श्रुतिसे अगाडीकी जो श्रुतियां हैं जिन्हें कि भाव रूपसे हमने " उत्तरेभ्यः" के अर्थ करतीवार रखा है उनसे पता चलता है)

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च । १–३–१४ ।

च–और गतिशब्दाभ्याम्–जीवोंकी सुषुप्तिमें दहरमें गति तथा ब्रह्मलोकशब्दसे निर्देश करनेके कारण । और दहरमें जीवोंकी सुषुप्ति तथा उसका ब्रह्मलोकशब्दसे निर्देश करनेके कारण दहर ब्रह्म है । तथाहि–तैसे ही अर्थात् जैसे इस दहर विद्यामें दहरमें जाना और उसे ब्रह्मलोक कहा है तैसे ही दृष्टम्–इससे प्रकरणोंमें भी सुषुप्तिकालमें ब्रह्ममें जाना तथा उस सुषुप्ति स्थानको ब्रह्मलोक कहा गया है च–और लिङ्गम्–पूर्वमीमांसोक्तलिंग भी दहरको ब्रह्म होनेका है ।

और जैसे छान्दोग्यके इस प्रकरणमें दहरको सुषुप्तिका स्थान तथा ब्रह्मलोक कहा है तैसे ही ब्रह्मलोकको सुषुप्तिस्थान तथा ब्रह्मलोक और २ भी प्रकरणोंमें कहा है और मीमांसाका लिंग भी दहरको ब्रह्म होनेका मिलता है। ।

छा० एवमेव इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्ति । ८–३–२ जिस तरह गढ़े खजानेपर विचारनेवाले मूर्ख यह नहीं जानते हैं कि हमारे नीचे खजाना गढ़ा हुआ है इसी तरह यह प्रजा रोज रोज सुषुप्तिकालमें इस दहररूप ब्रह्मलोकमें जाती हुई भी नहीं जानती कि ब्रह्मलोकमें जाते हैं ।

इस श्रुतिने सुषुप्तिके समय दहरमें गमन कहकर उसे ब्रह्मलोक कहा है इससे मालूम होता है कि दहरशब्दका अर्थ वा दहर ब्रह्म है । श्वेतकेतुको उसके पिताने उपदेश दिया है छा–६–९–२ सति सम्पद्य न विदुः सति संपद्यामहे–यह प्रजा सुषुप्तिकालमें ब्रह्ममें लय होकर भी नहीं जानती कि ब्रह्ममें निमग्न हैं तथा छा० ६–१०–२ में सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे–सुषुप्तिके पीछे सत् ब्रह्मसे आकर नहीं जानती कि ब्रह्मसे आ रहे हैं इस प्रकरणमें भी दहरकी तरह ही सुषुप्तिकी व्यवस्था की है ।

तथा बृ० ४–३–३२ । एष ब्रह्मलोकः सम्राट्–हे जनक ! यह ब्रह्मलोक है ऐसा याज्ञवल्क्यने जनकको उपदेश दिया है कि यह ब्रह्म ही ब्रह्मलोक है तब दहरप्रकरणमें दहरको ब्रह्म होना तथा उसमें सुषुप्ति तथा उसे ब्रह्मलोक कहना सर्वतः संगत है ।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः । १–३–१५ ।

अस्मिन्–इस दहरवाची ब्रह्ममें धृतेः–सब लोकोंका धारकपनेकी च–और अस्य–इस ब्रह्मकी महिम्नः–जगद्धारणरूप महिमाकी उपलब्धेः–उपलब्धि होनेसे दहरवाचक ब्रह्म है ।

छा०–य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय–८–४–१में कहा है कि दहररूप पूर्व कहा हुआ आत्मा सेतुकी तरह सबका धारक है यदि वह समर्याद धारण न करे तो सब पदार्थ आपसमें मिल जायं ।

इससे प्रतीत होता है कि दहरवाच्य परमात्मा है तब ही उसमें धारण और सबको आपसमें न मिलने देनेवाली महिमाका श्रवण होता है ।

प्रसिद्धेश्च । १–३–१६ ।

च–और आकाशशब्द तो प्रसिद्धेः–ब्रह्ममें प्रसिद्ध है ।

कई एक जगह आकाशशब्द ब्रह्मका वाचक आगया है इस लिये यहां भी उसे ब्रह्मवाचक ही समझ लो ।

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नाऽसम्भवात् । १–३–१७ ।

इतरपरामर्शात्–छा०–अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय–८–३–४ में संप्रसादशब्दसे उपलक्षित जीवका परामर्श होनेसे सः–दहरशब्दवाच्य जीव है इति–ऐसा कहो चेत्–तो न–नहीं कह सकते क्योंकि असंभवात्–पापपुण्यरहितत्वादिक गुण जीवमें असंभव हैं ।

इस लिये दहरशब्दवाच्य परमात्मा है जीवका परामर्श होते हुए भी जीव नहीं है ।

समीपमें जीवके सम्बन्ध होनेसे दहरवाच्य जीव है ऐसा तो नहीं कह सकते क्योंकि सत्यकामपना और सत्यसंकल्पपना वगैरह गुण जीवमें नहीं हो सकते ।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु । १–३–१८ ।

उत्तरात्–जब इन्द्रको जो प्रजापतिने उपदेश दिया है उससे सुकृत दुष्कृतरहितत्वादिक गुण जीवमें प्रतीत होते हैं चेत्–तब संप्रसादके परामर्शसे दहरशब्दवाच्य जीव ही क्यों न समझा जाय तु–ऐसा तो नहीं कह सकते क्योंकि उन गुणोंवाला आविर्भूतस्वरूपः–परब्रह्मको प्राप्त हुआ अपने रूपसे संपन्न पाप पुण्य रहित कहा गया है ।

परब्रह्मको प्राप्त होकर जीव भी सत्यकाम, सत्यसंकल्प एवं सुकृत दुष्कृत रहित हो जाता है परन्तु सबका धारण एवं आपसमें एक पदार्थको धर्मोंको दूसरेमें न मिलने देना यह समर्याद रखनेका काम ब्रह्मका है इसे जीव मुक्त होकर भी नहीं कर सकता, क्योंकि यह काम केवल ईश्वरका ही है ।

इन्द्र और प्रजापतिके संवादमें सत्यकाम सत्यसंकल्प तो मुक्तको कहा गया है ।

अन्यार्थश्च परामर्शः । १-३-१९ ।

च-और छा०-८-३-४में जो संप्रसादशब्दसे जीवका परामर्शः-परामर्श किया गया है वह अन्यार्थः-मुक्तको ब्रह्म प्राप्त होनेके बाद सुकृतदुष्कृतरहित आदि स्वाभाविक गुणोंकी प्राप्ति होती है इसलिये जीवका परामर्श किया गया है ।

मुक्तको अपना स्वरूप जानकर ही अपनेसे अधिकगुणयुक्त परमात्माके स्वरूपका अनुभव होगा यह जीवका अपने स्वरूपका ज्ञान भी परमात्मज्ञानमें सहायक है यह बात दिखायी गयी है ।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् । १-३-२० ।

अल्पश्रुतेः-इस शरीरमें दहरनामक हृदयकमल उसमें जो दहराकाश है वह ढूंढने और जानने-के योग्य है यह छा०-तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद् वाव विजिज्ञासितव्यम् ८-१-१में कहा गया है इसमें सन्देह होता है कि हृदय तो छोटा है तब फिर दहराकाश भी छोटा होगा इति-ऐसा कहो चेत्-तो-नहीं कह सकते क्योंकि तत्-इसका उत्तर उक्तम्-ब्रह्मसूत्र-१-२-४में कह चुके हैं ।

हृदयमें कहनेसे भी कोई ब्रह्मको लघुता नहीं होती किस तरह नहीं होती उसका उत्तर १-२-४ वे सूत्रसे दे चुके हैं ।

अनुकृतेस्तस्य च । १-३-२१ ।

च-और तस्य-उस दहराकाशवाची परब्रह्मके अनुकृतेः-साम्यसे मुक्त जीव भी सुकृत दुष्कृत रहित हो जाता है ।

विमुक्त जीव इस दहराकाशरूप ईश्वरके साम्यसे ही सुकृत दुष्कृत रहित होते हैं इसलिये जीव दहर नहीं हो सकते ।

अपि स्मर्य्यते । १-३-२२ ।

अपि-संसारीको भी मुक्तअवस्थामें ईश्वरके साथ साम्य स्मर्यते-स्मृतियां कहती हैं ।

इस साम्यको स्मृतिकार स्मरण करते हैं । गीताने कहा है कि-"इति ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्य-मागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" इस ज्ञानकी उपासना करके मेरे साम्यको प्राप्त होगये । अब वह सृष्टिकी रचनाके समयमें पैदा नहीं होते एवम् प्रलयमें दुःखी भी नहीं होते । इस साम्य उपदेशसे मालूम होता है कि जीव ब्रह्म नहीं होता एवं दहराकाश ब्रह्म नहीं है । (दह-राधिकरणं समाप्तम्)

शब्दादेव प्रमितः । १-३-२३ ।

प्रमितः-श्रुतियोंने जो अंगुष्ठमात्र हृदयमें रहनेवाला बताया है वह आत्मा ही है यह शब्दात्-उन श्रुतियोंके शब्दोंसे एव-ही प्रकट है ।

अंगुष्ठ परमित परमात्मा है यह श्रुतिसे ही सिद्ध होता है । कठवल्ली-२-४-२ । २-४-१२ । २-४-१३ में अंगुष्ठमात्रः पुरुषः-अंगुष्ठमात्र पुरुष है, यह लिखा हुआ है वह परमात्मा है क्योंकि इसे भूतभव्यका ईशान कहा गया है । जीव भूत, भव्यका ईशान नहीं हो सकता ।

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् । १-३-२४ ।

तु-अंगुष्ठमात्र तो हृद्यपेक्षया-हृदयकी अपेक्षासे कह दिया है क्योंकि मनुष्यका हृदय अंगुष्ठमात्र है और शास्त्रका मनुष्याधिकारत्वात्-मनुष्यको अधिकार है ।

शास्त्रश्रवणका मनुष्यको अधिकार है, मनुष्यके हृदयमें अंगुष्ठपरिमित हृदयाकाश है वही दहराकाश (ब्रह्मका) वेश्म है इस लिये ब्रह्म अंगुष्ठपरिमित है यानी अंगुष्ठमात्र कहलाता है । (प्रमिताधिकरणं समाप्तम्)

तदुपर्य्यपि बादरायणः सम्भवात् । १–३–२५ ।

बादरायणः—भगवान् बादरायण आचार्य्य तद्—इन मनुष्योंके उपरि—ऊपर जो देवादिक हैं उनमें अपि—भी पूर्वोक्त अंगुष्ठमात्र ब्रह्मपुरुषकी उपासना मानते हैं क्योंकि सम्भवात्—उनमें भी यह उपासना हो सकती है ।

जिसतरह मनुष्य अपने हृदयमें वर्तमान अंगुष्ठमात्र पुरुषकी उपासना करता है उसी तरह देवता भी करते हैं ऐसा बादरायण आचार्य्य मानते हैं । तब मनुष्योंसे ऊपर देवादिकोंमें भी ब्रह्मकी उपासना हो सकती है ।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । १–३–२६ ।

देवताओंको विग्रहवाला माननेपर कर्मणि—एक कालमें आरंभित अनेक यज्ञरूप कर्ममें, एक इन्द्रके होनेसे वह कहां कहां अपने भागको लेने पहुँचेगा, यह विरोधः—विरोध होगा यानी एक देवता एक कालमें अनेक यज्ञोंमें भाग न ले सकेगा । इति—ऐसा कहो चेत्—तो न—नहीं कह सकते, क्यों कि अनेकप्रतिपत्तेः—एक अपनी आवश्यकतानुसार अनेक शरीर कर सकता है । दर्शनात्—सौभरिआदि ऋषियोंने भी अपने अनेक शरीर किये थे ।

देवोंको शरीरवाला होनेपर भी यज्ञादिक कर्मोंमें कोई हानि नहीं है क्योंकि देवता अपनी आवश्यकताके अनुसार अपने शरीर बना सकते हैं । महर्षि सौभरि भी मान्धाताकी पुत्रियोंके बराबर शरीर बनाकर उनके जुदे जुदे महलोंमें रहे थे फिर देवता क्यों नहीं बना सकते ।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । १–३–२७ ।

न हो कर्ममें विरोध परंतु शब्दे—इन्द्रादिवाचक वैदिक शब्दोंमें तो विरोध होगा क्योंकि वेदको हम नित्य मानते हैं, वेदमें इन्द्रादिके वाचक इन्द्रादिशब्द आये हैं । क्या जबतक इंद्रादि नहीं हुए थे उस समय अर्थके न होनेसे इंद्रादि शब्द अनर्थक थे एवम् जब इंद्रादि न रहेंगे उस समय ये फिर अर्थके न रहनेसे अनर्थक हो जायँगे । तीसरे वही पूर्वमीमांसाका पूर्वपक्ष कि अनित्य इन्द्रादिक अर्थोंके साथ संबन्ध रहनेसे अर्थवान् न मानकर अनर्थक मानना ठीक है, यदि अर्थवान् मानो तो अनित्य ऋषि आदिके बनाये हुए मान लो इति—ऐसा कहो तो न—नहीं कह सकते क्यों कि अतः—इन वैदिक शब्दोंसे ही प्रभवात्—इन्द्रादिक अर्थ उत्पन्न होते हैं ।

वैदिक इंद्रादिशब्दोंका इंद्रादि आकृतिके साथ संबन्ध है, इन इन्द्रादिशब्दोंसे इन्द्रादिक व्यक्तिविशेष अर्थ उत्पन्न होते हैं । विशेष तात्पर्य—वेद ईश्वरका दिव्यज्ञान एवं ईश्वराधीन होकर सृष्टिके रचनेवाले ब्रह्माके लिये सृष्टि रचनेका प्रधान साधन है, कारण इंद्रादिरचनीय व्यक्ति आकृतिरूपसे सब ब्रह्माके गोचरीभूत हैं, उसे निमित्त भेदसे जो कि निमित्त वेदने ही बताया है उसके अनुसार व्यक्तिविशेषका निर्माण करना है इतना ही कर्तृत्व ईश्वरके पीछे करनेवालोंके लिये है और कुछ नहीं है । जो व्यक्ति इस प्रकार वेदसे उत्पन्न हो चुकीं अब वह पैमाना उनका इतिहाससा मालूम होता है पर वह इतिहास न होकर उसका मानाचित्र है पर इतिहासकी आवश्यकताको पूरा

कर सकता है । इसी तरह वेदमें जो पुरूरवा आदिके मानचित्र आये हैं वे पुरूरवा आदिके निर्मापक एवं उनके इतिहासकी आवश्यकता पूरी कर रहे हैं । इस तरह संपूर्ण सृष्टिका विज्ञान वेदोंसे बाहिर नहीं है, वेद सोपकरण ईश्वरके ही स्वरूप हैं ।

यही कारण है कि जितनी शाखाएँ उपलब्ध हैं, उन सबका व्याख्यान पुराणके रूपमें मौजूद है, एवं उपस्थित वेदोंके मिल जानेपर यह भी कहा जा सकता है कि जो शाखाएँ लुप्त हो गयी हैं वे भी हमें पुराणोंके रूपमें उपलब्ध हैं, स्वामी दयानन्दजी जो चार संहितासे अधिक वेद नहीं जानते यह उनकी ही नाजानकारी है । याज्ञवल्क्य जैसे महर्षिके लिये भी जब वेदका दर्शन कराया गया है तो उन्होंने भी अपनी जानकारीको कुछ न समझा था ।

अत एव च नित्यत्वम् । १-३-२८ ।

च-और अतः-इस कारण एव-ही वेदोंको नित्यत्वम्-नित्यता है ।

वेदसे ही सृष्टिकी रचना होती है इसी लिये वेद नित्य हैं ऐसा ही [ऋ.सं.१०-७२-३ में] लिया है ।

वेदव्यासजीने अपनी स्मृतिमें कहा है कि युगके अन्तमें इतिहाससहित वेद अन्तर्लीन हो गये थे, ब्रह्माजीके आज्ञासे महर्षियोंने सृष्टिके आदिमें तपसे प्राप्त किया-"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा"

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ।१-३-२९ ।

च-और आवृत्तौ-संपूर्णका उपसंहार होनेके पीछे जगत्की उत्पत्तिकी आवृत्ति होनेपर अपि-भी समाननामरूपत्वात्-पूर्वोत्पन्न सृष्टिके समान ही नाम रूप होनेसे अविरोधः-प्राकृत प्रलयके बाद भी शब्दपूर्विका सृष्टि होनेमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि दर्शनात्-वेद उसे भी शब्दपूर्वक कहते हैं च-और स्मृतेः-मनुस्मृति भी ऐसा ही कहती है ।

जिस तरह ब्रह्मा अपनेसे नीचे लोकोंकी प्रलयके पीछे वेदसे इन्द्रादिक अर्थोंका स्मरण करके उन्हें उत्पन्न कर देता है उसी तरह प्राकृतलयमें भी पूर्वकीसी सृष्टि भगवान् रच देते हैं, उसका स्मरण करके इस कारण शब्दपूर्वक सृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं है । (देवताधिकरणं समाप्तम्)

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः । १-३-३० ।

जैमिनिः-जैमिनि आचार्य्य अनधिकारम्-जिन उपासनाओंमें देवता उपास्य हैं उनमें उन देवताओंको उपासना करनेका अधिकार नहीं, क्योंकि मध्वादिषु-छा० असौ वा आदित्यो देवमधुः ३-१-१ में आदित्यकी देवमधुदृष्टिसे उपासना एवं छा० वायुर्वाव संवर्गः४-३-१में वायुकी संवर्ग बुद्धिसे उपासना, छा० अग्निः पादः ३-१८-२ में अग्निकी पाददृष्टिसे उपासना असंभवात्-आदित्य वायु और अग्नि नहीं कर सकते ।

एक दूसरेकी तो उपासना कर सकता है पर अपने आप अपनी उपासना नहीं कर सकता, इस कारण जहां आदित्यकी मधुदृष्टिसे उपासना करनी कही गयी है वहांपर आदित्य अपने आप अपनी मधुबुद्धिसे उपासना नहीं कर सकता । इस कारण जैमिनि देवताओंको उपासना नहीं मानते ।

ज्योतिषि भावाच्च । १-३-३१ ।

च-और ज्योतिषि-परब्रह्ममें भावात्-देवताओंकी उपासना सुनी जाती है ।

देवताओंको जो ब्रह्मोपासकत्वका विधान किया है इससे मालूम होता है कि देवता ब्रह्मके सिवा किसी दूसरेके उपासक नहीं हैं ।

भावन्तु बादरायणोऽस्ति हि । १-३-३२ ।

बादरायणः-बादरायण आचार्य्य तु-तो भावम्-मानते हैं कि आदित्य भी अपनेमें मधुदृष्टिसे उपासना कर सकता है । हि-आदित्यादिकोंको भी अपनेमें रहनेवाले ब्रह्मके उपासनपूर्वक ब्रह्म प्राप्त करनेकी इच्छा एवं दूसरे कल्पमें आदित्यादि होनेकी इच्छा अस्ति-रहती है ।

मनुष्योंकी तरह आदित्य आदिको भी दूसरे कल्पमें आदित्यादि होनेकी इच्छा रहती है इस लिये वे भी स्वावस्थब्रह्मकी उपासना करते हैं । (मध्वधिकरणं समाप्तम्)

शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि । १-३-३३ ।

अस्य-इस जानश्रुति पौत्रायणका शुग्-शोक, सयुग्वा रैक्वके शूद्र कहनेसे सूच्यते-सूचित होता है यह नहीं है कि पौत्रायण शूद्र था । हि-इसमें कारण यह है कि तदनादरश्रवणात्-हंसरूपी ऋषिकुमारोंसे अपना अनादर सुनकर रैक्वको ढुढवा शोकित हो तदाद्रवणात्-रैक्वके पास पहुंचा था।

जानश्रुति पौत्रायणका प्रसंग छा०-जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस ४-१-१से प्रारम्भ होकर छा०-ते हैते रैक्वपर्णनाम ४-के पूरे द्वितीयखण्डमें समाप्त हुआ है। यह बड़ा अन्नदानी राजा था, एक रोज दो ऋषिकुमार इसे दिव्य बोध करानेके लिये इसके महलके ऊपर उड़ते हुए आपसमें झगड़ते सयुग्वा रैक्वकी प्रशंसा करके चले गये । प्रातःकाल इसने अपने सारथिके लिये आज्ञा दी कि रैक्वको ढूंढकर मुझे बताओ, निदान सारथिने पता दिया जिसे सुनते ही कई सौ गाय एवम् एक रथ भेट लेकर रैक्वके पास हाजिर हुआ । उस सयुग्वा-अर्थात् शकटके नीचे बैठे हुएने जानश्रुतिसे कहा कि-शूद्र अर्थात शोकयुक्त राजा बेवतन मैं, इनका क्या करूं ? तू इन्हें रख। यह सुन राजा अपने घर आया और अपनी लड़कीको रैक्वके व्याहनेके लिये अपने साथ लेकर रैक्वको संपन्न गृहस्थ बनाकर उससे दिव्य ज्ञान प्राप्त किया ।

इस किसीकी यह शंका थी कि जानश्रुतिको शूद्र कहा गया है इसलिये जानश्रुति शूद्र था, एवम् शूद्रको भी ब्रह्मविद्याका उपदेश किया गया है, इसलिये शूद्रको भी ब्रह्मविद्याका अधिकार है ।

इस शंकाका व्यासदेवजीने उत्तर देना शुरू किया है कि शूद्र कहनेसे उसके शोकितपनेको कहा गया है न कि उसे शूद्र जातिका कहा गया है ।

यह शूद्र शब्द-" शुच शोके " धातुसे " शुचेर्दश्च " इस औणादिक सूत्रसे शूद्र बनता है,शोक करनेवाला ही सूचित होता है, यहां जातियोग नहीं है ।

क्षत्रियत्वावगतेश्च । १-३-३४ ।

च-और छा०-४-१-१ में जो जानश्रुतिको बहुदायी बहुपाक्य कहा है इसका अर्थ है बहुतसे पक्वान्नका दानी, पक्वान्नका दानी क्षत्रियके सिवा दूसरा हो नहीं सकता । छा०-४-१-४में कहा है कि सुबह होते ही क्षत्तारमुवाच-क्षत्तासे बोला-क्षत्ता कौन होता है ? इसके बारेमें स्मृतिने कहा है

कि–" वैश्याद् ब्राह्मणकन्यायां क्षत्ता नाम प्रजायते । जीविकावृत्तिरेतस्य राजान्तःपुररक्षणम् ॥" ब्राह्मण कन्यासे जो वैश्य द्वारा उत्पन्न हो वह क्षत्ता कहलाता है जिसका कार्य राजाके अन्तःपुरकी रक्षा और सारथीपना है। तथा बहुतसे गाम भी रैक्वको दिये हैं, ये काम शूद्रके नहीं क्षत्रियकुमार-के हैं अतएव इनसे जानश्रुति पौत्रायणकी क्षत्रियत्वावगतेः–क्षत्रियपनेकी सिद्धि होती है।

जानश्रुति क्षत्रिय था, शूद्र नहीं था क्षत्ता राजन्योंके ही यहां रहा करते हैं दूसरेके पास नहीं रहते, शूद्रके तो अन्नका भी निषेध किया गया है, यह पक्वान्नका दानी है जो सब ओर अपना यह प्रबन्ध किया है कि सब मेरे ही अन्नका भोजन करें।

उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्। १–३–३५।

उत्तरत्र–इस जानश्रुतिके प्रकरणसे अगाड़ी, जानश्रुतिको जो विद्या उपदेश की गयी थी, उसी विद्यामें चैत्ररथेन ४–३–५ में अभिप्रतारिनाम द्वारा कहे हुए चैत्ररथ क्षत्रियसे जानश्रुतिको भी क्षत्रियत्वका बोध होता है। इस अभिप्रतारीका चैत्ररथपना तो लिंगात्–ता०ब्रा०२०–१२ में कहा गया है कि–एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्–इस यज्ञसे कापेय चैत्ररथको यजन कराते हुए, यह कापेयोंके साथ चैत्ररथका यजन देखा गया है तब शौनक कापेयके साथ अभिप्रतारी काक्षसेनी चैत्ररथ है यह निश्चय होता है।

इससे इस विद्याका ब्राह्मणके सिवा क्षत्रियका भी अधिकार है यह सिद्ध होता है शूद्रका नहीं है। **अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे**–कापेय शौनक और अभिप्रतारी काक्षसेनिको रसोइया भोजन परोस रहा था, एक ब्रह्मचारीने भिक्षा आकर मांगी।

इन दोनोंने उसके लिये मने कर दिया तब उसने कहा कि जिसके लिये यह अन्न है उसे आपने नहीं दिया। अन्तमें इन्होंने उसे भिक्षा दी यहां ब्रह्मचारीने संवर्गविद्याका उपदेश दिया है। पूर्वोक्त विचारसे यह अभिप्रतारी चैत्ररथ वंशका मालूम होता है इस प्रकरणपर दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि ज्ञानश्रुति शूद्र नहीं है।

संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च। १–३–३६।

च–और संस्कारपरामर्शात्–विद्यामें उपनयन संस्कार देखा जाता है, जब कोई किसीके पास सीखने जाता है तो समिधपाणि होकर जाता है, अगाड़ी गुरुकी इच्छा रहती है जी चाहे जैसा उप-नयन करे, इस कारण जानश्रुति शूद्र नहीं हो सकता। तदभावाभिलापात्–शूद्रके लिये संस्कारका अभाव है।

शूद्रका संस्कार नहीं होता एवम् ब्रह्मविद्यामें संस्कारकी आवश्यकता है तब संवर्ग विद्या सीखने-वाले जानश्रुतिको शूद्र नहीं कहा जा सकता।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः। १–३–३७।

च–यह भी एक हेतु जानश्रुतिको क्षत्रिय होनेका है कि तदभावनिर्धारणे–सत्यकाम जाबाल जब हारिद्रुमत गौतमके पास विद्या सीखने आया है तब हारिद्रुमत गौतमने शूद्रके अभावका निश्चय करनेपर प्रवृत्तेः–उपनयन करनेकी प्रवृत्ति की थी, इससे मालूम होता है कि जानश्रुति क्षत्रिय था।

छा–४–४में सत्यकामजाबालकी कथा आयी है,जब वह गौतमके पास विद्या पढ़ने गया है, तो उसका उपनयन तब किया गया है जब उसके शूद्र न होनेका निश्चय कर लिया था कि–नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधᳪसौम्य आहर उप त्वा नेष्ये–हे सौम्य ! जैसा तू सत्य बोला ऐसा सत्य सिवा ब्राह्मणके दूसरा कोई बोल नहीं सकता कि मुझे पता नहीं कि कौनसा गोत्र है ? मासे पूछा-माने कह दिया था कि जब मैं रात दिन तेरे पिताकी सेवामें लगी रहती थी उस जवानीमें तू हुआ, मैं तेरे पितासे गोत्र भी न पूछ सकी इस कारण जा समिध ले आ तेरा उपनयन करूँगा ।

इस तरह उपनयन कर उपनयनके पीछे ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था इससे शूद्रके लिये ब्रह्म-विद्याका उपदेश नहीं है, जानश्रुतिके लिये ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया गया है, इसलिये विदित होता है कि यह शूद्र नहीं है ।

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् । १-३-३८ ।

शूद्रको श्रवण वेदका सुनना, अध्ययन पढना अर्थ–उसका अनुष्ठान करना इनका प्रतिषेधात्–निषेध होनेसे प्राचीनकालका आस्तिक जानश्रुति शूद्र नहीं है ।

श्रुति तथा सूत्रग्रन्थोंमें शूद्रके समीपतक बैठकर स्वाध्यायको न करना चाहिये तथा शूद्रके लिये श्रवणआदिका प्रतिषेध किया गया है, फिर जानश्रुति शूद्र होता तो कैसे पढ़ सकता था ।

स्मृतेश्च । १–३–३९ ।

च–और स्मृतेः–शूद्रको स्मृति भी बहुत बुरे तरीकेसे निषेध करती है ।

इस कारण ब्रह्मविद्याका पिपासू जानश्रुति शूद्र नहीं है । (शूद्राधिकरणं समाप्तम्)

कम्पनात् । १–३–४० ।

अंगुष्ठमात्र परमात्मा हैं क्योंकि कठउपनिषद्ने इसके भयसे सबको कांपता बताया है, इससे मालूम होता है कि अङ्गुष्ठमात्र परमात्मा है ।

यदिदं किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निस्सृतम् । महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ यह अंगुष्ठमात्र पुरुषकी सत्तासे डरसे कांपता हुआ संसार इसकी आज्ञापालनमें लग रहा है, जैसे मनुष्य जिसके हाथमें मारनेके लिये तयार वज्र हो उससे डरता कांपता हुआ उसकी आज्ञा पालनमें लग जाता है । यह भय सिवा परमात्माके दूसरेका नहीं हो सकता जिससे कि भयसे सब संसार कांपता हो ।

ज्योतिर्दर्शनात् । १–३–४१ ।

कठोपनि० तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् २–५–१५में जो अंगुष्ठमात्र पुरुषकी ज्योतिको सबका उपकारक बताया है कि उसीकी ज्योतिसे सब प्रकाश कर रहे हैं इससे पता चलता है कि अंगुष्ठमात्र परमात्मा है । (प्रमिताधिकरणं समाप्तम्)

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।१–३–४२ ।

आकाशः–छा०–आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म–८–१४–१में जो आकाश शब्द आया है वह परमात्माका वाचक है, क्योंकि अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्–उसी श्रुतिमें जो यह कहा गया है कि नामरूपसे अन्तरा विना अर्थात् अस्पष्ट ब्रह्म है एवम् नाम और रूपका वहन करनेवाला आकाशको कहा गया है ।

इससे वह और मुक्तजीव आकाशका अर्थ नहीं है । श्रुतिमें आकाशको नामरूपका निर्वोढा एवं नामरूपरहित कहा गया है, इससे मालूम होता है कि आकाशका यहां अर्थ ब्रह्म है और कुछ नहीं है।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन । १-३-४३ ।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः—बृ०--प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्–४-३-२१ में कहा गया है कि, प्राज्ञ आत्मासे मिलकर न बाहिर न भीतरकी कुछ भी नहीं जानता । यहां बाह्य दुःखसुखोंका अवेत्ता जिससे मिलकर होता है वह ब्रह्म है तथा उत्क्रमणमें भी कहा है कि प्राज्ञसे अन्वारूढ होकर जाता है, यह सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें भेदेन–ब्रह्मके साथ इस प्रकार भेद होनेसे प्रत्यगात्मासे अर्थान्तरभूत परमात्मा है ।

सुषुप्तिमें और मरनेके वख्त देह छोड़नेके समय जो जीवका भेद दिखाया है इससे मालूम होता है कि जीवसे ब्रह्म जुदा है ।

पत्यादिशब्देभ्यः । १-३-४४ ।

आत्माको सर्वेश्वर एष सर्वभूताधिपतिः—सबका अधिपति सबका वशी सब जगत्का धारण करनेवाला, अजर अमृत आनन्द आदि कहा है, मुक्तदशामें भी जीव सबका अधिपति तथा सब जगका धारक नहीं हो सकता इस कारण जीवसे परमात्मा अर्थान्तरभूत है,ऐक्यका उपदेश तो चिद् वर्ग और अचिद्वर्ग दोनोंको ब्रह्मका कार्य्य होनेसे ब्रह्मात्मक होनेके कारण किया गया है । (अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाधिकरणं समाप्तम्)

इति पं० माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-गृहीतेर्दर्शयति च । १-४-१ ।

एकेषाम्—एक शाखावालोंकी शाखामें आनुमानिकम्—अनुमानसे प्रतिपाद्य प्रधान अपि–भी संसारका कारण कहा गया है । इति–ऐसा कहो चेत्–तो सो न–नहीं कह सकते अव्यक्तशब्दसे काठकोपनिषदादिकोंमें अब्रह्मात्मक प्रधान नहीं कहा गया है शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः–शरीरको रहनेवाले अथवा शरीरनामक रूपकसे विन्यास किये हुएका अव्यक्तशब्दसे ग्रहण होनेके कारण च–और दर्शयति–दिखाया भी ऐसा ही गया है ।

कठशाखावालोंके यहां अनुमानसे प्रतिपादन किया हुआ प्रधान जगत्का कारण है यह नहीं कह सकते, क्योंकि वहां रथके रूपकसे विन्यास किये शरीरका ग्रहण है । इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ यह कठोपनिषद् १-३-१०।११

की श्रुति है इसका अर्थ सांख्यसूत्र ६१ से तथा " मूलप्रकृतिरविकृतिः" इस कारिकासे मिलता जुलतासा अर्थ सांख्यवालोंने किया है कि इन्द्रियोंसे परे तन्मात्राएँ और तन्मात्राओंसे परे मन अर्थात् अहंकार उससे परे बुद्धि तथा बुद्धिसे परे महत्तत्त्व और उससे परे प्रकृति तथा उससे परे पुरुष है, पुरुषसे परे कुछ नहीं, वही काष्ठा और वही परा गति है ।

इस तरह कठशाखामें ये प्रधानको श्रुति प्रतिपाद्य सिद्ध करनेके लिये चले हैं,इसीके खण्डन करनेमें इस अधिकरणका प्रारंभ किया गया है कि--आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु । बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणःकठ--१--३--३ । ४ । में आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि तथा मनको लगाम और इन्द्रियोंको घोड़े एवं विषयोंको भजनेका रास्ता कहा है तथा इन्द्रिय मनोयुक्त आत्माको भोक्ता कहा है ।

इसमें शरीरको रथ बनाया है तथा औरोंको रथका उपकरण बनाकर आत्माको रथी बनाया है। इस रूपकमें बताये हुए पदार्थोंको १० । ११ में गिनतीवार शरीरके स्थलमें अव्यक्त शब्द दे दिया है, इसके ही आधारपर कहा जाता है कि वह सांख्यके पदार्थोंका संग्रह नहीं किन्तु रूपकमें आये हुए पदार्थोंको ही प्रकारान्तरसे समझाया गया है ।

सूक्ष्मसे ही स्थूल बनता है इस कारण अव्यक्तशब्दसे शरीर भी सूक्ष्मका ही बोध होता है १--३--१० । ११ कि श्रुतियोंका वेदान्तियोंके यहां यह अर्थ होगा कि इंद्रियोंसे परे विषय हैं जिनके लिये इंद्रिय भजते हैं, इंद्रियोंसे मन उत्कृष्ट है जो इन्हें लगाता उठाता है, उससे परे बुद्धि है जो निश्चय करती है उससे परे जीवात्मा है, उससे परे सूक्ष्म अवस्था हैं जिनसे यह स्थूल बनता है, उससे परे नारायण है, यह अर्थ विशुद्ध है पूर्वका अर्थ सांख्यवालोंके यहांका था। अव्यक्तशब्दसे सूक्ष्मका विधान है इसपर और भी सूत्र हैं ।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् । १--४--२ ।

तु--अव्यक्तशब्दसे व्यक्त शरीरका विधान तो सूक्ष्मम्--अव्याकृत भूतसूक्ष्म ही अवस्थाविशेषको प्राप्त होकर शरीर होजाते हैं । तदर्हत्वात्--क्योंकि वे उसके योग्य हैं । अथवा--वह अव्याकृत चिद्वस्तु ही विकारावस्थाको प्राप्त होकर रथकी तरह पुरुषार्थके साधनकी प्रवृत्तिके योग्य है। भूतसूक्ष्म तो स्थूल शरीर रूपमें योग्य होनेके कारण अव्यक्तशब्दसे कहा गया है, अन्य नहीं कहा गया ।

तदधीनत्वादर्थवत् । १--४--३ ।

तदधीनत्वात्--परमकारणभूत पुरुषोत्तमके अधीन होनेके कारण भूतसूक्ष्म अर्थवत्--प्रयोजनवाला है। यह भूतसूक्ष्म सबके आदिकारण पुरुषोत्तमके वशमें होनेके कारण अपने२ प्रयोजनको साधते हैं ।

ज्ञेयत्वावचनाच्च । १--४--४ ।

ज्ञेयत्व--अव्यक्त अवश्यमेव जानने योग्य है ऐसा काठकोपनिषदादिमें अवचनात्--वचन न होनेसे। सांख्यशास्त्रका सा प्रधान यहां अव्यक्तशब्दसे विवक्षित नहीं है, क्योंकि सांख्यने अव्यक्तको ज्ञेय माना है पर इस प्रकरणमें कहीं भी अपने अव्यक्तको ज्ञेय नहीं कहा है ।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् । १-४-५ ।

वदति–काठकोपनिषद् ३–१५ में प्रधानको भी अवश्य जानने योग्य कहा है इति–ऐसा कहो चेत्–तो न–नहीं कह सकते । हि–निश्चयके साथ प्रकरणात्–प्रकरणसे प्राज्ञः–प्राज्ञका ही ज्ञेयत्व-रूपसे बोध होता है ।

कठोपनिषद् ३–१५ की श्रुति–महत्से परको अर्थात् सांख्यके प्रधानको जानने योग्य कहती है ऐसा कहो तो नहीं कह सकते, वहां प्रकरणसे प्राज्ञका ही बोध होता है ।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च । १-४-६ ।

च–और काठकोपनिषद्में त्रयाणाम्–तीन अग्नि, जीव और परमात्मा इनका एव–ही उपन्यासः–उल्लेख है च–और एवम्–इसीप्रकार प्रश्नः–नचिकेताका यमके प्रति प्रश्न है ।

तीनका ही इसी प्रकार निरूपण और तीनका ही प्रश्न है ।

कठोपनिषद्की कथा है कि ऋषिकुमार नचिकेता पिताकी आज्ञाका पालन करने देहसहित यम-लोकमें पहुँचकर तीन दिन निराहार यमके दरवाजे खड़े रहे, यमने तीन दिनके खड़े रहनेके बदले तीन वर दिये थे । पहिले वरमें तो नचिकेताने पिताकी प्रसन्नता प्राप्त की, दूसरेमें अग्निविद्या एवं तीसरे वरदानमें अध्यात्मज्ञान मांगा । अध्यात्मज्ञानके विषयमें कठ १–३–११ में अव्यक्तशब्द आया है, इसको लेकर सांख्यवादी कठोपनिषद्में भी प्रधान कारणवादका स्वप्न देख रहे थे, इस कारण वेदव्यासने इस अधिकरणकी संकलना की। अव्यक्तके सांख्योक्त प्रधान अर्थका खण्डन करके शरीरावस्थ अव्याकृत अर्थ किया है, शरीरके कारणभूत भूतसूक्ष्मोंसे उसका तात्पर्य्य है । इस सूत्र-में यह दिखाई दिया है कि प्रधानका कोई प्रसंग ही नहीं है केवल तीनही वरोंके सवाल जवाब हैं ।

महद्वच्च । १-४-७ ।

च–और महद्वत्–महत्की तरह जिस तरह कठ १–३–१० में महत्शब्दका आत्माके साथ ऐकाधिकरण्य रहनेसे सांख्योक्त महत्तत्त्वका ग्रहण नहीं होता, उसी तरह अव्यक्तशब्दसे भी सांख्यो-क्त प्रधानका ग्रहण नहीं होता। आत्मशब्दका संपर्क रहनेके कारण । (आनुमानिकाधिकरणं समाप्तम्)

चमसवदविशेषात् । १-४-८ ।

अविशेषात्–श्वेताश्वतर ४–५ में जो अजाशब्दसे प्रकृतिको कहा गया है वह सांख्योक्त प्रकृति है, इसमें कोई विशेष विनिगमक न होनेके कारण सांख्योक्त नहीं मानी जा सकती किन्तु ब्रह्मात्मक मानी जाती है चमसवत्–जिस तरह बृ०–२–२–३ की श्रुतिमें आया हुआ चमसशब्द हवन साध-नका वाचक न होनेपर मुखका वाचक है ।

ब्रह्मात्मक अजा प्रकृति या प्रधानको छोड़कर सांख्य जैसी प्रकृति वेदान्तमें नहीं है । जैसे बृ०–२–२–३ में आया हुआ चमसशब्द हवनके साधनका वाचक नहीं है विशेष विनिगमक न होनेके कारण इसी तरह अजाशब्द भी सांख्यकी प्रकृतिका वाचक नहीं है ।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणो-ऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ यह श्वे. ४–५ की श्रुति है इसका सांख्यवालोंने

अर्थ किया है कि रजो-गुण, सत्त्वगुण और तमोगुणमयी एक अजा अपने समान रज सत्त्व तमवाली बहुतसी प्रजा रचनेवालीको एक अज पुरुष प्रेमके साथ उसका संग करता है तथा दूसरा अज इसे भोगकर छोड़ देता है ।

इस तरह ये सांख्यवाले अपने प्रधानको श्रुतियोंसे सिद्ध करने लगे थे, इसके खण्डनको यह अधिकरण किया गया है कि चमस हवनके साधनमें प्रसिद्ध है तो भी २--२--३० अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः इस श्रुतिमें चमस अर्थ न होकर चमसका अर्थ करते हैं कि चमस--अर्थात् भोजनका साधन शिर पूर्वमूल तथा पश्चात् बिलवाला है, इसी तरह अजामेकाम् इसका भी दूसरा ही अर्थ है उसे हम यहीं दिखाते हैं कि--जो एक अजा अर्थात् सूक्ष्मावस्था तथा सृष्टिवेलामें ब्रह्मसे स्थूलावस्थाको प्राप्त हुई अतः एक ब्रह्मकारणवाली, तेज अन्न और जलके रूपमें परिणत होकर तेजके लाल तथा अन्नके कृष्ण एवं जलके शुक्लरूपसे युक्त इन तीनोंके योग्यसे ऐसी ही अनेक रचना रचनेवाली है ; एक जीव इसके मूलतत्त्वको न समझ इसमें भ्रमे रहते हैं, दूसरे भगवान्की कृपा पाकर इसके तत्त्वको समझ इसके भ्रम जालसे बच जाते हैं ।

यह अर्थ यहां अभीष्ट है पहिला अर्थ सांख्य वालोंका है तैत्तिरीय शाखावाले इसका भी ब्रह्म कारण बताते हैं श्वेताश्वतरशाखावाले इसे ब्रह्मात्मिक कहते हैं कि-देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्--ब्रह्मवेत्ताओंने अपने प्रभावसे अपने गुणोंसे निगूढ़ ब्रह्मात्मिकाको सबका कारण देखा । इसी विषयको यह अगाड़ीका सूत्र परिस्फुटरूपसे कहता है ।

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके । १--४--९ ।

तु--वेदान्तकी अजा (प्रकृति) तो ज्योतिरुपक्रमा--ब्रह्मकारणिका अर्थात् ब्रह्मकारणवाली है । अर्थात् उसका ब्रह्म कारण है तथा--तैसे हि--ही एके--तैत्तिरीय शाखावाले अधीयते--अपनी शाखामें प्रकृतिको पढ़ते हैं ।

वेदान्तमें आयी हुई अजा (प्रकृति) का भी कारण ब्रह्म ही है, कोई भी स्वतंत्र प्रधान अजाशब्दसे श्रुतियोंमें नहीं कहा गया है । ऐसा ही तैत्तिरीयशाखावाले, अपने यहां पढ़ते हैं ।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः । १--४--१० ।

च--और, प्रकृतिका ब्रह्म कारण है इसके साथ प्रकृतिको अजा अर्थात् किसीसे भी पैदा नहीं कहनेमें अविरोधः--कोई विरोध नहीं है जैसे मध्वादिवत्--आदित्य कारणावस्थामें एक होता हुआ भी कार्य्यावस्थामें त्रयीप्रतिपाद्य कर्मका आश्रय होकर वसुआदि देवोंका भोग्य बनता है तथा आदित्य भी अपने कारणावस्थाके रूपका स्मरण कर लेता है । कल्पनोपदेशात्--इस प्रकृतिके विषयमें भी यह बात है कि अपनेसे अविभक्त जो सूक्ष्मावस्था है उसीसे सर्वेश्वरने इस विश्वको रचा है, इस सृष्टिके उपदेशसे सृष्टिसे पहिले कारण एवम् सृष्टिके पीछे ब्रह्मकारणकत्व होता है, कोई विरोध नहीं ।

ऋग्वेदमें कहा गया है कि धाताने पूर्वकल्पकी तरह ही सूर्य्य और चांदकी सृष्टि की तथा श्वे०--४-९ में कहा है कि--अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् अपनेसे अभिन्न जो जगत्की सूक्ष्मावस्था है उससे इस मायी-अर्थात् मायाके अधिपति ईश्वरने इस संसारको रचा । इससे सिद्ध हो गया

कि सूक्ष्मावस्था अजा और सृष्टिकी अवस्था प्रकृति कही है इस सृष्टिकी अवस्थायुक्त प्रकृति ब्रह्म-कारणिक है ये दोनों बातें प्रकृतिमें घट गयीं ।

इसी तरह मधुविद्यामें कार्य्यावस्थ सबका उपासक एवं स्वयं कार्य्यावस्थ अपनी कारणावस्थाका उपासक है । (चमसाधिकरणं समाप्तम्)

न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च । १-४-११ ।

संख्योपसंग्रहात्—संख्याके उपसंग्रह अर्थात् बृ०-४-४-१७ यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्—इसका अर्थ सांख्यवाले करते हैं कि जनशब्दका तत्त्व अर्थ है दूसरा पांच वीप्सामें है तब ५ का पांचके साथ गुणा कर देनेसे पच्चीस हो गये । मूलप्रकृति महत्तत्त्व अहंकार और ग्यारह इन्द्रिय और पांच भूत तथा पुरुष ये पच्चीस तत्त्व सांख्यके हैं उन सबका ग्रहण इस श्रुतिसे हो जाता है इस सांख्यवालोंकी शंकाका उत्तर देते हैं—कि २५ की संख्याको श्रुतिसे सिद्ध करनेपर अपि—भी न—सांख्योक्त प्रधानशब्दप्रतिपाद्य नहीं हो सकता नानाभावात्—परस्पर भिन्न होनेसे,क्योंकि पंचसंख्याके विशेषणसे युक्त पंचजन सांख्योक्त तत्त्वोंसे जुदे हैं च—और अतिरेकात्—भिन्न उपदेशसे यानी पांचका पांचसे गुणा करनेसे सांख्योक्त तत्त्वोंकी संख्या पूरी होनेपर भी आकाशका पृथक् निर्देश किया है इसकारण सांख्योक्ततत्त्वोंका संग्रह नहीं है ।

संख्याके बलपर भी सांख्यके तत्त्वोंका उपनिषदमें संग्रह नहीं है बृ०-४-४-१७ के संख्येय सांख्यके तत्त्वोंसे भिन्न है और आकाशका भी श्रुतिने पृथग् ग्रहण किया है । बृहदारण्य-४-४-१७ की श्रुतिको लेकर सांख्यवाले अपने २५ तत्त्वोंको श्रुतिप्रतिपाद्य बताने लगे थे उनकी इस बातका प्रत्याख्यान करनेके लिये यह सूत्र किया है कि सांख्यवालोंने पूरे मंत्रके अर्थपर विचार नहीं किया । इसका अर्थ यह है कि जिस ब्रह्ममें पंचजनसंज्ञक पांच ज्ञानेन्द्रिय और आकाशादिक भूत प्रतिष्ठित हैं । उसीको आत्मा मानता हूं इस आत्माको अमृत ब्रह्म जाननेवाला भी अमृत होता है ।

तमेव—उसको ही, उसको किसको इस अपेक्षासे यत्शब्द उपस्थित होता है उसका रूप यस्मिन् यहां मौजूद ही है इसका तात्पर्य्य है कि—जिस ब्रह्ममें पंचजन पंच और आकाश प्रतिष्ठित है इससे सब ब्रह्ममें प्रतिष्ठित हैं ब्रह्मसे भिन्न नहीं ।

सांख्यके मतमें २५में ही सबके अन्तर्गत हो जानेसे श्रुतिमें आकाश और आत्माके देनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ।

प्राणादयो वाक्यशेषात् । १-४-१२ ।

वाक्यशेषात्—४-४-१८ की जो श्रुति पूर्वकी श्रुतिके विषयको पूरा करनेवाली है उससे ये पञ्च-जन प्राणादयः—प्राण अर्थात् त्वचा और चक्षु श्रोत्र तथा मन हैं ।

पंचजन प्राणादिक हैं यह वाक्यशेष यानी अगाड़ीकी श्रुतिसे प्रतीत होता है । ४-४-१८ में त्वचा चक्षु श्रोत्र और मन इनका प्रत्यक्ष उल्लेख आया है परन्तु माध्यन्दिनीय शाखामें इसीतरहकी श्रुतिमें मनसे पहिले अन्न अर्थात् पार्थिवेन्द्रियका भी उल्लेख किया है एकसा विषय होनेके कारण तो उसको यहां ग्रहण करके ५की संख्या पूरी की है घ्राण और रसनाको एक करके गिन लिया है ।

ज्योतिषा एकेषामसत्यन्ने । १-४-१३ ।

एकेषाम्—काण्वशाखावालोंके यहां अन्ने—अन्नके असति—न होनेपर ज्योतिषा—ज्योतिसे इंद्रियोंका बोध हो जाता है ।

एकशाखावालोंके यहां अन्नके न होनेपर ज्योतिषां ज्योतिः—में ज्योतिषाम्के ज्योतिषशब्दसे इंद्रियोंका ग्रहण हो जाता है ।

अर्थात् जिस श्रुतिका हमने उल्लेख किया था उसका शेष—प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो ये विदुः—यह है पर माध्यन्दिनीय शाखामें "अन्नस्य अन्नम्" इतना पाठ और अधिक है इसी श्रुतिमें तब इसका अर्थ हुआ कि प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु और श्रोत्रका श्रोत्र और मनका मन तथा प्राणका प्राण है जो उसे इस प्रकार जानते हैं उन्होंने अग्रगण्य पुराण ब्रह्मको जान लिया । यह श्रुतिका अर्थ हुआ इसमें पंचजनसंज्ञक प्राणादि आ ही गये ।

जो हम पहिले दिखा चुके हैं काण्वशाखावालोंके यहां माध्यन्दिनीयवालोंकी तरह अन्न न होकर भी पूर्व मंत्रमें जो ज्योतिषां ज्योतिः इसमें ज्योतिषाम् इससे इंद्रियोंका ग्रहण होता है उनकी ज्योतिसे ब्रह्मका ग्रहण हो जाता है जिस तरह बृहदारण्यवालोंने माध्यन्दिनीयके साथ मिला प्राण और ले पांचोंकी संख्या पूरी की थी उस तरह काण्व नहीं, वे तो ज्योतिषाम्में ज्योतिशब्द पड़ा हुआ है उससे ही पांचों ज्ञानेन्द्रियोंका बोध हो जाता है । (संख्योपसंग्रहाधिकरणम्)

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः । १-४-१४ ।

च—और यह बात नहीं है कि वेदान्तमें एकसे सृष्टि नहीं कही गयी किन्तु आकाशादिषु—आकाशादिकोंमें, कारणत्वेन—ब्रह्मको कारणरूपसे यथाव्यपदिष्टोक्तेः—पहिले पादमें जैसा ब्रह्म कहा गया है वैसा ही कहा गया है इस कारण ब्रह्म ही जगत्का कारण है यह निश्चित होता है ।

जैसे ब्रह्मका उपदेश दिया गया है वही आकाश आदिके कारणरूपसे कहा गया है भिन्न नहीं ।

समाकर्षात् । १-४-१५ ।

अच्छी तरह खींचनेसे यानी जहां भी कहीं असदादिकका व्यपदेश किया गया है वहां भी आनन्दमय सत्यसंकल्प ब्रह्मका ही समाकर्षण किया जाता है इस लिये ब्रह्म ही आकाश आदिका कारण है । (कारणत्वाधिकरणं समाप्तम्)

यहां पूर्वपक्षीकी यह शंका थी कि कहीं सद् था यह कहते हो तो कहीं असद् था यह कहते हो अर्थात् आपके वेदान्तमें एकसे सृष्टि नहीं मानी, इस कारण ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है इसका उत्तर तो इस अधिकरणके पहिले सूत्रसे दे दिया दूसरे सूत्रसे श्रुतिकी अर्थ संकलना करते हैं कि असद्वा इदमग्र आसीत्—सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहिले यह जगत् असत् अर्थात् अव्यक्त नाम रूप ब्रह्म ही था ।

अर्थात् पहिली श्रुतिमें तथा अगाड़ी श्रुतिमें कहे हुए ब्रह्मका ही असत्के साथ सम्बन्ध है यह दूसरे सूत्रने बता दिया है ।

जगद्वाचित्वात् । १-४-१६ ।

जगत्का वाचक होनेसे यानी कौषीतकि-४-१८ में यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्यः इसमें जो एतत्शब्द है वह जगत्का वाचक है इस कारण यहां प्रधानोक्त पुरुषका प्रसंग नहीं है।

यह सामान्यमें सूत्रका अर्थ है विशेषरूपसे और भी इसके तात्पर्य्यके समझानेकी कोशिश करते हैं।

कौ-४-से वालाकिके साथ अजातशत्रुका संवाद शुरु होता है और अध्याय इन दोनोंके ही संवादमें पूरा हुआ है।

वालाकिको अपनी विज्ञतापर अभिमान था एक रोज अजातशत्रुके पास जाकर बोला कि मैं आपको ब्रह्मोपदेश देना चाहता हूं, अजातशत्रुने कहा कि लोग जनकके पास भेजते फिरते हैं मुझे आप उपश दें मैं आपको इसीपर पहुंत हूंगा। वालाकिने क्रमशः आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, वादल, आकाश वायु, अग्नि, जल, आदर्श, आदिमें रहनेवाले पुरुषोंका उपासक अपनेको कहा, उसके पीछे २ अजातशत्रुने भी ऐसा ही कह दिया कि मैं भी उनकी उपासना करता हूं कुछ उनका विशेषरूप और फलविशेष भी कह डाला, पीछे पर वालाकि निरुत्तर हो गया उसे देख अजातशत्रु बोला कि आप झूठा ही कहते थे मैं तुझे ब्रह्मका उपदेश दूंगा—यो वै वालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वा एतत् कर्म स वै वेदितव्यः—हे वालाके! जो परमात्मा इन आदित्य आदिमें रहनेवाले पुरुषोंका ज्ञाता है, अथवा इस २ में करनेवाला वा इनका कर्ता है जिसका यह जगत् कर्म है वह जानने योग्य है।

यह इसका वास्तविक अर्थ है पर सांख्यवाले इसे पुरुषका प्रतिपादक मानकर इसका यह अर्थ करने लगे थे कि जो इन अदित्यादिके मण्डलादि रूप पुरुष हैं उनका कारणभूत तथा जिसका एतत् कर्म यह विश्वका कारणभूत पुण्यपापरूप कर्म है वह जाननेके योग्य है कि मैं वास्तवमें प्रकृतिसे जुदा हूं और यह मेरा रूप है।

सांख्यवालोंके इस रूपको देख सूत्रकारने वता दिया कि एतत्कर्मका सांख्योक्त अर्थ नहीं क्योंकि एतत्शब्द जगत् तथा कर्मशब्द कार्यका वाचक है।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम् । १-४-१७ ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्—जीवके चिह्न और मुख्य प्राणके चिह्नोंके रहनेके कारण न—यहां ब्रह्मप्रसंग नहीं किन्तु जीवका अर्थात् सांख्योक्त पुरुषका ही प्रसंग है इति—ऐसा कहो चेत्—तो नहीं कह सकते क्योंकि तद्—इसके उत्तरको व्याख्यातम्—१-१-३१ में कह चुके हैं।

जीवके चिह्न तथा मुख्य प्राणके चिह्न होनेसे भोक्ताका इस प्रकरणमें विधान है ऐसा नहीं कह सकते कारण इसका उत्तर प्रतर्दन प्रकरणमें दे चुके हैं।

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके । १-४-१८

जैमिनिः—जैमिनि आचार्य तु—तो कौ० ४-१८-१९ में जीवका संकीर्तन अन्यार्थम्—जीवसे अतिरिक्त ब्रह्मके स्वरूपको वोधन करनेके लिये है प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्—वालाकिसे जो अजातशत्रुने पूछा है कि सोनेके समय यह कहां गया था पीछे वताया है कि यह जीव सुषुप्तिके समयमें पुरीतति नाडी द्वारा ब्रह्ममें लय होता है इन प्रश्न और उत्तरसे मालूम होता है कि जीवसे इतर परमात्मा है

जहां जाकर यह आनन्दमें शयन करता है । च—और ऐके—छा० बृ० शाखावाले अपि—भी एवम्—इसप्रकार पढ़ते हैं कि सुषुप्तिकालमें जीव परमात्मामें लय होता है ।

महर्षि जैमिनि तो जीवसे अतिरिक्त ब्रह्मके स्वरूपको बोधन करनेके लिये इस प्रकरणमें जीवका सम्बन्ध मानते हैं बालाकि और अजातशत्रुके प्रश्नोत्तरसे यह बात सिद्ध है छा०— और बृ० शाखावाले सुषुप्तिकालमें जीवकी ब्रह्ममें प्राप्ति मानते हैं । (जगद्वाचित्वाधिकरणं समाप्तम्)

वाक्यान्वयात् । १-४-१९ ।

बृ—२ के चौथे ब्राह्मणके प्रारंभसे पांचवे ब्राह्मणके वंशभुवनतक याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीका संवाद चला है । उसमें याज्ञवल्क्यजीने मैत्रेयीको आत्मोपदेश देते हुए कहा है कि सबके कामके लिये सब प्यारे नहीं होते परन्तु आत्माके कामके लिये सब प्यारे होते हैं उसी आत्माका श्रवण मनन और निदिध्यासन करना चाहिये । इस प्रकरणमें आत्मासे परमात्माका बोध होता है क्योंकि उसीके ज्ञानसे अमृतपना प्राप्त होता है तमामवाक्योंका अन्वय उसीमें होता है ।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः । १-४-२० ।

आश्मरथ्यः—आश्मरथ्य आचार्य्य, जीवात्मवाची शब्दसे उपनिषदोंमें परमात्माके कथनको प्रतिज्ञासिद्धेः—एकके विज्ञानसे सबके विज्ञानवाली प्रतिज्ञाकी सिद्धिका लिङ्गम्—हेतु वा चिह्न मानते हैं ।

आश्मरथ्य इसे अपने अभ्युपगमकी सिद्धिका ज्ञापक मानते हैं ।

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ॥ मु०—२—१ । हे शौनक ! जिसतरह प्रदीप्त अग्निसे अग्निके समान रूपवाली चिनगारियाँ निकलती हैं उसीतरह अक्षर ब्रह्मसे अनेकों तरहके भाव पैदा होते हैं और उसीमें लय हो जाते हैं ।

इस श्रुतिसे जीवोंकी भी उत्पत्ति और लय सुना जाता है इसकारण जीवबोधकशब्दोंसे भी वेदान्तब्रह्मका अभिधान करते हैं ।

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः । १-४-२१ ।

औडुलोमिः—औडुलोमि आचार्य्य,उत्क्रमिष्यतः—उत्क्रमणकरनेवाले जीवको एवंभावात्—परमात्मभाव होनेसे जीवके शब्दोंसे परमात्माका अभिधान है इति—ऐसा मानते हैं ।

आर्चिरादिमार्गसे जानेवाले जीवको इस समय परमात्मभाव होनेके कारण जीवके कहनेवाले शब्दोंसे परमात्माको कहा गया है ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं ।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः । १-४-२२ ।

काशकृत्स्नः—काशकृत्स्न आचार्य्य, अवस्थितेः—अपने शरीरभूत जीवात्मामें आत्मरूपसे ईश्वर रहता है इसकारण जीवात्मवाची शब्द परमात्माके बोधक हैं इति—ऐसा मानते हैं ।

परमात्माकी जीवमें स्थिति रहती है इसकारण जीववाचीशब्दोंसे परमात्माका कथन किया गया है ऐसा काशकृत्स्न आचार्य्य मानते हैं । (वाक्यान्वयाधिकरणं समाप्तम्)

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् । १-४-२३ ।

प्रकृतिः—उपादानकारण च—और निमित्तकारण ब्रह्म ही है । प्रतिज्ञा—श्वेतकेतुके पिताने श्वेतकेतुसे कहा है कि तुमने उस उपदेशको सुना जिसके सुननेसे विना सुना हुआ सुना हुआ और विना

सोचा हुआ सोचा हुआ हो जाता है यह प्रतिज्ञा और दृष्टान्त–एक सोनेके ज्ञानस सोनेके सब कुण्डल वगैरह तथा एक लोहके ज्ञानसे सब लोहके कार्य्य तथा एक मिट्टीके ज्ञानसे सब मिट्टीके बरतन जान लिये जाते हैं। एवं प्रतिज्ञा और दृष्टान्तोंके, अनुरोधात्–अनुरोधसे, उपादान और निमित्त कारण दोनों ही ब्रह्म है।

अभिमानी पुत्र श्वेतकेतुसे उसके पिताने पूछा है कि तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति–इसका अर्थ 'प्रतिज्ञाके विवरणमें कह चुके हैं यही उनका वादा है कि जिस एकके जाननेसे सब जाने सुने जाते हैं उसका महोपदेश तुमने लिया। पीछे दृष्टान्त यानी उदाहरण देकर इस बातको समझाया है इसी प्रकरणके आधार पर यह कह दिया गया है कि निमित्तकारण और उपादानकारण ब्रह्म है।

अभिध्योपदेशाच्च। १–४–२४।

च–यह और हेतु ब्रह्मको निमित्त और उपादान दोनोंका प्रतिपादन करनेवाला है। अभिध्योपदेशात्–पहिले संकल्प कि एक मैं बहुत हो जाऊं और सृष्टिके होनेसे।

पहिले तो संकल्प किया है कि एक मैं बहुत हो जाऊं; संकल्प करना निमित्तका काम है इसलिये निमित्त ब्रह्म हुआ तथा यह भी अपनेको ही बहुत करनेका है अपनेको किया है इसलिये आप ही उपादान कारण भी है।

और वह संकल्प–सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय, तथा तदक्षैत बहु स्यां प्रजायेय इत्यादि श्रुतियोंसे परिस्फुट होता है इसका अर्थ है कि उसने इच्छा या संकल्प किया कि मैं बहुत होऊं और विश्व उत्पन्न करूं यह अपनेको ही बहुत करनेका अपना ही नारायणका संकल्प है इस कारण निमित्त और उपादान दोनों ही ब्रह्म है।

साक्षाच्चोभयाम्नानात्। १–४–२५।

च–और यह बात नहीं है कि प्रतिज्ञा दृष्टान्त और संकल्पसे यह प्रतीत हो कि ब्रह्म निमित्त और उपादान कारण दोनों है किन्तु साक्षात्–स्वयं ही ब्राह्मणने उभयाम्नानात्–निमित्त और उपादान दोनों ही कहा है।

श्रुतिने अपने शब्दोंमें ब्रह्मको निमित्त और उपादान कारण दोनों ही कहा है इसकारण निमित्त और उपादानकारण ब्रह्म है।

श्रुति स्वयं ही पूर्वपक्ष करती है कि किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्। उस रचना करनेवाले ब्रह्मका क्या उपादान और क्या उपकरण था जिससे इस जमीन आसमान आदिको बना दिया। हे बुद्धिमानो! मनसे इस बातका विचार करो कि इन भुवनोंको धारकर कौन अधिष्ठाता बना है। इसका उत्तर भी श्रुति देती है कि–ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्–हे बुद्धिमानो! मैं मनके साथ विचारकरके बोल रहा हूं कि ब्रह्म ही उपादानकारण और ब्रह्म ही इस संसारका निमित्तकारण है वही ब्रह्म सब संसारको धारण करके सबका अधिष्ठाता बना बैठा है।

यह निमित्त और उपादान दोनों ही कारण ब्रह्म है सिद्ध हो गया ।

आत्मकृतेः । १-४-२६ ।

तै०-२-७ तदात्मानꣳस्वयमकुरुत-वह स्वयं अपने आत्माको करता हुआ यहां अपने आप अपनीको स्वयं ही किया है इससे मालूम होता है कि निमित्त और उपादान दोनों ही ब्रह्म है ।

परिणामात् । १-४-२७ ।

सत्यकाम सत्यसंकल्पादिगुणवाला परब्रह्म, अपनी लीलाके उपकरणरूप जो चिद् अचिद् वस्तु उसके शरीरवाला हैं ब्रह्मके शरीररूप प्रपञ्चमें कारणपरम्परासे जब तम अकेला रह जाता है उस समय तमशरीरवाला ब्रह्म संकल्प करता है कि मैं पहिलेकी तरह चिद् अचिद् मिश्र पपञ्चशरीरवाला हो जाऊं, फिर उसी क्रमसे अपनी आत्माको पूर्वके प्रपञ्चके रूपमें परिणत करता है, इस परिणामके श्रवणसे ब्रह्म ही निमित्त और उपादान दोनों कारण है ।

परिणाम बदलनेको कहते हैं जैसे मिट्टीका जब घड़ा बनाया जाता है उस समय मिट्टीकी शकलमें चली जाती है यही घड़ा मिट्टीका परिणाम कहा जाता है इसी तरह समस्तदोषरहित तथा कल्याणकारी गुणोंके आकर नारायणका जड़ चेतनयुक्त प्रपंचरूपसे आत्माका वहुत होनेका संकल्प है प्रलयमें जो स्वशरीरभूत तममें लय था उसे पहिलीकी तरह नाम रूपसे विभाजित करना बहुत होना है ।

योनिश्च गीयते । १-४-२८ ।

च--और मुण्डक उपनिषद्वाले ब्रह्मको योनिः--भूतयोनि गीयते--कहा है इस कारण निमित्त और उपादान कारण दोनों ही ब्रह्म है ।

और मुण्डक शाखावाले ब्रह्मको भूतयोनि कहते हैं इस कारण निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म ही है । कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् मु० ३-१-३ में लिखा है-कि जगत्के उपादान सबके नियन्ता क्रियाशक्तियुत ब्रह्म पुरुष नारायणको जान लेता है इसमें स्वयम् श्रुतिने उपादान कहा है तथा यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः-जो सब प्राणियोंका उपादान कारण है उसे देखते हैं इसमें भी उपादान कारण ब्रह्म को ही कहा है इससे प्रतीत होता है कि निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म है ।

उपादान और निमित्त कारणकी विशेषव्याख्या । उपप्राङ्आदा×ल्युट्से उपादानशब्द बना है, इसका अर्थ तो यह है कि जिसके अंशोंसे जिसमें कार्य्य हो उसे उपादान कहते हैं अर्थात् कार्य्यकी आत्माको उपादान कहते हैं अर्थात् जो अपने देहसे कार्य्यके रूपको प्राप्त हुआ हो । नि×उपसर्ग पूर्वक "ञिमिदा स्नेहने" से निमित्तशब्द बनता है अर्थात जो उपादान देहको कार्य्यकी सूरतमें परिणत करनेका हेतु हो वह निमित्त कहलाता है, पर ब्रह्मने अपने आप ही अपने देहको जगत रूपमें परिणत किया इस कारण निमित्त और उपादान दोनों ही जगदीश ही होता है नैयायिकोंके यहां इन दोनों कारणोंकी जगह समवायि और निमित्त कारण शब्दका प्रयोग होता है । समवायिकारणका तात्पर्य्य है कि जिसमें समवाय सम्बन्धसे कार्य्य हो । निमित्त वह है जो अपने प्रयत्न तथा उपकरणसे समवायिसे कार्य्यका निर्माण करे पर वेदान्ती समवाय सम्बन्ध नहीं मानते इसलिये

समवायि न कहकर उपादान कारण कहा है उसका कार्य्यके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, यह साधारण रीतिसे उपादान और निमित्तकारणका तत्त्व समझानेकी चेष्टा की है । (प्रकृत्यधिकरणं समाप्तम्)

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः । १-४-२९ ।

एतेन—इस पहिली अध्यायके न्यायसे सर्वे—सर्व वेदान्तोंके जगत् कारण प्रतिपादन करनेवाले सब वाक्यविशेष व्याख्याताः—व्याख्यान कर दिये गये व्याख्याताः—व्याख्यान कर दिये गये यह दुबारा कहना अध्यायकी समाप्ति सूचनाके लिये है ।

इस पहिली अध्यायमें कहे हुए न्यायके बलसे जगत्के कारण प्रतिपादन करनेवाले वाक्य ब्रह्मको प्रतिपादन करनेवाले हैं यह सिद्ध कर दिया गया है । (सर्वव्याख्यानाधिकरणं समाप्तम् ।)

इति पं० माधवाचार्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः अध्यायश्च समाप्तः ।

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् । २-१-१ ।

स्मृति—प्रधानकारण न माननेपर सांख्यस्मृतिका अनवकाश—अवकाश न रहेगा दोषप्रसङ्गः—यह दोष वेदान्तियोंके यहां होगा इति—ऐसा कहो चेत्—तो न—नहीं कह सकते यदि सांख्यका प्रधानकारणवाद स्वीकार करलें तो अन्य—मनु आदिक स्मृति—स्मृतियोंके सृष्टिकारण प्रतिपादनको अनवकाशदोष—अवकाश न होनेसे दोषका प्रसंगात्—प्रसङ्ग रहेगा ।

जो सांख्यके कहे हुए प्रधानकारणवादको स्वीकार करोगे तो मनुआदिक स्मृतियोंके कहे हुए ब्रह्मैककारणवादको कोई अवकाश न रहेगा इसलिये ब्रह्मकारणवाद ही मानना उचित है ।

इतरेषां चानुपलब्धेः । २-१-२ ।

च—एक और सांख्योक्त प्रधानको सृष्टिका कारण न माननेका कारण यह है कि इतरेषाम्—श्रुतिप्रसिद्ध मन्वादिक स्मृतियोंमें प्रधानकारणवाद अनुपलब्धेः—उपलब्ध नहीं होता ।

जिन स्मृतियोंका वेदमें प्रसंग आया है उन स्मृतियोंमें सांख्यका कहा हुआ प्रधानकारणवादन हीं सुना जा रहा है इसलिये भी हम प्रधानकारणवादके सहमत नहीं हैं ।

एतेन योगः प्रत्युक्तः । २-१-३ ।

एतेन—इस सांख्यके प्रधानकारणवादके खण्डनसे योगः—योगकी भी वेदान्तविरुद्ध बातें प्रत्युक्तः-खण्डन कर दी गयीं ।

सांख्यकी तरह योग भी प्रधान कारणवादी है इसलिये उसके खण्डनसे इसके भी खण्डन हो गया ।

योग ईश्वरको निमित्तकारण मानता है । वह स्वयं ध्यानरूप है उसके ध्येय आत्मा और ईश्वर हैं वह इन्हें स्वभावसे निर्दोष और संपूर्ण कल्याणकारी गुणोंकी राशि नहीं मानता । योगका आदि-

वक्ता हिरण्यगर्भ स्वयं क्षेत्रज्ञ होनेके कारण कभी न कभी स्वयं ही रज तम आदिसे अभिभूत हो सकता है इसलिये योगको नहीं मानते ।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् । २-१-४ ।

अस्य-इस जगत्को विलक्षणत्वात्-ब्रह्मसे विलक्षण होनेके कारण न-ब्रह्मकारणकत्व नहीं है च-और तथात्वम्-ब्रह्मसे विलक्षणपना तो शब्दात्-वेदसे मालूम होता है ।

कारणमें जो गुण होते हैं वे कार्य्यमें हुआ करते हैं,पर ब्रह्मके जैसे गुण पूर्व प्रतिपादन किये गये हैं, संसारमें उससे विपरीत ही गुण देखे जाते हैं, इसलिये इस असार संसारको ब्रह्मकारणक नहीं कहा जा सकता प्रत्यक्ष भेद यह भी दीखता है कि पृथिवीआदिकमें चैतन्यता नहीं दीखती और ब्रह्मको सच्चिदानन्द कह रहे हो ।

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् । २-१-५ ।

तु—यह जो छान्दोग्य-तत् तेज ऐक्षत बहु स्याम् ६-२-३ में कि तेज इच्छा करने लगा कि मैं बहुत हो जाऊँ तब उसने पानीको रचा पानीने ऐसी ही इच्छा करके भूमिको रचा ऐतरेयोपनिषदमें भी ऐसे ही प्रकरण आये हैं। ऐसे प्रकरणोंमें जो यह लिखा मिलता है कि पृथिवी तेज और जलने यह किया, यह चाहा,यह कहा तहां पृथिवी आदि अचेतनोंका कहा हुआ न समझना किन्तु, अभिमानि पृथिवी आदिके अभिमानी देवताका व्यपदेशः-निर्देश है । विशेषानुगतिभ्याम्-यह छान्दोग्यके पूर्वोक्त प्रकरणमें जो इनका देवता विशेषण किया है उससे और अग्नि आदि वाग् आदि बनकर मुख आदिमें गमन किया है, उससे यह प्रतीत होता है ।

जहाँ कहीं भी अचेतनोंका चेतनकी तरह व्यवहार देखते हैं वहां उस अचेतनका अभिमानी चेतन समझना चाहिये यह नहीं है कि वह अचेतन ही चेतनकी तरह व्यवहार कर रहा है ।

दृश्यते तु । २-१-६ ।

तु—यह बात नहीं है कि कारणसे कार्य्य विलक्षण नहीं होता दृश्यते-कारणसे कार्य्य विलक्षण भी देखा जाता है, माक्षिक आदिसे कृमि आदिकी उत्पत्ति देखी जाती है ।

यह- नियम नहीं मालूम होता कि कारणके समान गुणवाला कार्य्य होता है, अचेतनसे चेतनकी भी उत्पत्ति देखी जाती है ।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् । २-१-७ ।

असत्-कार्य्यसे कारण विलक्षण होता है ऐसा मानेंगे तो कार्य्यसे कारण एवं कारणसे कार्य्यको जुदा द्रव्य होनेके कारण ब्रह्ममें अविद्यमान विश्वकी उत्पत्ति होगी इस लिये असत्की उत्पत्ति यह बौद्धोंका पक्ष वेदान्तमें भी आगया इति-ऐसा कहो चेत्-तो न-नहीं कह सकते । क्योंकि-प्रतिषेधमात्रत्वात्-कार्य्य और कारणके एकसेपनेका प्रतिषेध किया है न कि इस बातका भी निषेध कर दिया हो कि कारणभूत ब्रह्म अपनेसे विलक्षण जगत्के रूपसे परिणत होता है ।

'दृश्यते तु' इस सूत्रमें कार्य्यकारणकी सदृशताका निषेध किया है इस बातका निषेध नहीं किया है कि, कारणभूत ब्रह्म अपनेसे विलक्षण जगतके रूपमें परिणत होता है ।

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् । २-१-८ ।

अपीतौ—उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयमें, तद्वत्—दूषित गुणयुक्त कार्य्यके प्रसङ्गात्—सम्बन्धसे असमञ्जसम्—वेदान्तवाक्योंकी किसी भी तरह संगति न बैठेंगी ।

यदि कार्य्य और कारण दोनों एक द्रव्य होते हैं, ऐसा मानेंगे तो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयमें दोषयुक्त कार्य्यको कारण ब्रह्ममें रहनेके कारण वे दोष ब्रह्ममें भी आजायंगे तब ब्रह्मको सत्यसंकल्पत्वादिगुणक एवं निर्दोष कहनेवाली श्रुतियाँ बिलकुल ही असंगत हो जायंगी ।

न तु दृष्टान्तभावात् । २-१-९ ।

तु—जो पहिले सूत्रमें असमञ्जसता कही गयी थी वह तो न—नहीं हो सकती । दृष्टान्तभावात्—ऐसा दृष्टान्त मौजूद है ।

जैसे शरीरमें रहनेवाली बाल वृद्ध अवस्थाएँ आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं, इसी तरह आत्मामें रहनेवाले ज्ञान आदिक शरीरमें नहीं रहते, इसी तरह परब्रह्मके चिद् अचिद्रूप शरीरमें रहनेवाले संकोच और विकास परब्रह्मको दूषित नहीं कर सकते ।

स्वपक्षदोषाच्च । २-१-१० ।

च—यह बात नहीं है कि हमारे यहां ही इस दोषकी चर्चा चल सकती है किन्तु स्वपक्षदोषात्—प्रधानकारणवादमें भी यह दोष हो सकता है ।

प्रधानकारणवादमें जगत्की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । इस कारण प्रधानकारणवाद आदरणीय नहीं है ।

तर्काप्रतिष्ठानादपि । २-१-११ ।

तर्काप्रतिष्ठानात्—तर्कके स्थिर न रहनेके कारणसे अपि भी—तर्काश्रित प्रधानकारणवाद न मानना चाहिये ।

प्रधानकारणवाद तर्कपर अवलंबित है और तर्क पुरुषबुद्धितन्त्र होनेसे स्थिर नहीं रह सकता, इसलिये वेद प्रतिपादित ब्रह्मकारणवादको ही मानना चाहिये ।

अन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसंगः । २-१-१२ ।

अन्यथा—जिस तरह कोई दूषण न हो उस तरहसे अनुमेयम्—प्रधानकारणका अनुमान करेंगे । वा ऐसा ही प्रधान मानेंगे इति—ऐसा कहो चेत्—तो एवम्—इस प्रकार अपि—भी अनिर्मोक्षप्रसंगः—दूषणका परित्याग नहीं हो सकता ।

जो आप निर्दोष रीतिसे प्रधानकारणका प्रतिपादन करेंगे आपसे भी कोई चतुर आदमी फिर दोष निकाल देगा, इसलिये वेदविहित कारणवादकी शरण लो और उसीके अनुसार तर्कसे उसका निश्चय करो ।

एतेन शिष्टाः परिग्रहा अपि व्याख्याताः । २-१-१३ ।

एतेन—इस सांख्यपक्षके खण्डनसे शिष्टाः—न्याय वैशेषिकके बचे हुए परिग्रहाः—पक्ष अपि—भी व्याख्याताः—खण्डन कर दिये गये ।

सांख्यके समान न्याय और वैशेषिकादिकोंके पक्ष भी खण्डन कर दिये गये ।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् । २-१-१४ ।

भोक्तृ-स्थूल और सूक्ष्म चिद् अचिद्शरीरवाले ब्रह्मको भी शरीरी जीवकी तरह सुख दुःखके भोक्तापनेकी आपत्तेः-प्राप्ति होगी फिर जीव ब्रह्मका कोई भोग भोगनेके विषयमें मतभेद ही नहीं रहा इसलिये जीव और ब्रह्मके स्वभावका अविभागः-विभाग ही नहीं रहा ऐसा कहो चेत्-तो नहीं कह सकते। क्योंकि लोकवत्-जिस तरह राजाके राज्यमें रहनेवाले लोगोंको राजाकी आज्ञासे सुख दुःखकी प्राप्ति होने पर भी राजाको वे सुख दुःख नहीं भोगने पड़ते,इसी तरह पुरुषोत्तम भी अपनी सामर्थ्यसे दोषोंको नहीं छूता और भोगोंको भी धारण करता है भक्तोंके लिये, स्यात्-पूर्वोक्त दृष्टांतकी तरह जीव और ब्रह्मके स्वभावका विभाग हो जायगा ।

जिस तरह सशरीर होते हुए भी शास्य और शासकका आपसमें विभाग रहता है उसी तरह जीव और ईश्वरके भी स्वभावका विभाग हो सकता है ।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । २-१-१५ ।

तत्-उस कारणभूत ब्रह्मसे जगत्का अनन्यत्वम्-अनन्यपना आरम्भणशब्दादिभ्यः-आरम्भणशब्द जिनकी आदिमें है इसी छा-६ श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

यह जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं यह श्वेतकेतुको जो उसके पिताने उपदेश दिया है उससे एवं जो श्वेतकेतुसे उनके पिताने सवाल किये हैं उनसे प्रतीत होता है ।

भावे चोपलब्धेः । २-१-१६ ।

भावे-कुण्डल आदि कार्य्योंके सद्भाव होनेपर उपलब्धेः-कारणरूप सुवर्णकी उपलब्धि होती है इससे प्रतीत होता है कि कारणभूत द्रव्य अवस्थान्तरको प्राप्त होकर कार्य कहा जाता है, च-इससे मालूम होता है कि कारणसे कार्य अनन्य है ।

जब कुण्डल आदि रहें तब उनमें सुवर्ण आदिकी प्रतीति होती है यह नहीं होता कि किसी दूसरे द्रव्यकी प्रतीति होती हो। इससे कार्य कारण दोनों एक हैं वस्त्वन्तर नहीं यह प्रतीत होता है।

सत्त्वाच्चापरस्य । २--१--१७ ।

अपरस्य-कार्य्यको कारणमें सत्त्वात्-विद्यमान रहनेके कारण कारणसे कार्य अन्य नहीं है, लोकमें ऐसा भी व्यवहार होता है कि जो अब मैं घट और सराव (सखोरे) आदि देख रहा हूँ । वह आज दोपहर तक तो मिट्टी ही था च-यह भी हेतु कारणसे कार्यको अभिन्न माननेका है ।

कारणमें कार्य विद्यमान रहता है बादमें कारण ही कार्य्यावस्थाको प्राप्त हो कार्य्य हो जाता है इसलिये कारणसे कार्य्य पृथक् नहीं कहा जा सकता ।

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दान्तराच्च । २-१-१८ ।

असद्व्यपदेशात्-छा० ३-१९-१ में कहा है कि यह जगत् अपनी उत्पत्तिसे पहिले असत् ही था । छा० ६-२-१ में भी यही कहा है, तै० १-२-७-१ में भी यही कहा है । इन स्थलोंमें

जगत्के लिये असत्का व्यपदेश होनेसे न–कारणमें कार्य्यकी सत्ता वेदान्तसे प्रतीत नहीं होती इति-ऐसा कहो चेत्–तो, न–नहीं कह सकते। क्योंकि,धर्मान्तरेण–संस्थानान्तरसे असत्त्वका निर्देश किया गया है । वाक्यशेषात्–बृ० में जहां यह कहा है कि उस असत्ने मन किया इस मनकरणसे मालूम होता है कि यह असत् तुच्छ नहीं है युक्तेः–यह असत्त्व धर्मान्तर है मृद्द्रव्य घटाकारसे युक्त हो घट कहलाने लगता है । आकारकी विरोधी अवस्थाके साथ योग घट नहींके व्यवहारका कारण हो जाता है। शब्दान्तरात्–जिन जिन श्रुतियोंमें सत्का व्यपदेश किया गया है कहीं कहीं कि–यह पहिले अव्याकृत था पीछे नामरूपसे व्याकृत किया गया । इससे भी मालूम होता है कि धर्मान्तरका योग था। च–ये इतने हेतु हैं इससे यह नहीं कहा जा सकता कि कारणमें कार्य्यकी सत्ता नहीं रहती ।

श्रुतिने जो यह कहा है कि "असद् ही यह अगाड़ी था और कुछ भी नहीं था" इससे मालूम होता है कि आप जो कहते हैं कि कारणमें कार्य्यकी सत्ता रहती है सो झूँठ कहते हैं ऐसा कहो तो नहीं कह सकते क्योंकि वहां नामरूपकी विरोधिनी सूक्ष्मावस्थाको कहा गया है यह असत्के निर्देशके पीछे जो असत्ने मनस्करण किया है उससे मालूम होता है । युक्तिसे भी यही प्रतीत होता है क्योंकि ये सत्त्व और असत्त्व पदार्थके धर्म हैं घटाकार घड़ा है इस व्यवहारका हेतु है उसकी सूक्ष्मा-वस्था नहींके व्यवहारका हेतु है ।

छा०–६ अध्यायमें असद्की शंका करके उत्तर दिया है कि असत् अर्थात् तुच्छसे यह संसार हो यह कैसे हो सकता है यह सत्से ही हुआ है, पहिले अव्याकृत था पीछे नामरूपसे व्याकृत कर दिया गया है ।

पटवच्च । २–१–१९ ।

पटवत्–जिस तरह तन्तु ही बुनने आदिसे पटकी सूरतमें पहुँच जाते हैं उसी तरह ब्रह्म भी जगत्के रूपमें हो जाता है च–यह भी दृष्टान्त कार्य्यको कारणसे अभिन्न प्रतिपादन करता है ।

यथा च प्राणादिः । २–१–२० ।

यथा–जैसे प्राणादिः–वायु शरीरमें वृत्तिभेदसे प्राण अपान आदि बन जाता है या प्राण अपान आदि नामरूपवाला हो जाता है उसी तरह एक ब्रह्म भी स्थावररूप जगत् हो जाता है । च–यह भी एक दृष्टान्त ब्रह्मसे अभिन्न जगत्को सिद्ध करता है ।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः । २–१–२१ ।

इतरव्यपदेशात्–ब्रह्मसे भिन्नको ब्रह्मभावका कथन करनेसे ब्रह्मको हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः–जीवके अनुकूल सृष्टिका न करना एवम् जीवके प्रतिकूलका करना आदि दोषोंकी प्राप्ति होगी ।

जीव ब्रह्मरूप ही है तो ब्रह्मको चाहिये था कि जीवके अनुकूल सृष्टिको बनाता प्रतिकूल न बनाता पर ब्रह्मने तो सृष्टिको आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक दुःखोंका खजाना बनाया है यह ब्रह्ममें दोष आता है ।

अधिकं तु भेदनिर्देशात् । २–१–२२ ।

तु–तुम्हारी की हुई शंकाओंको अवकाश नहीं है क्योंकि भेदनिर्देशात्–माध्यन्दिनीय शाखामें यो विज्ञाने तिष्ठन् इसकी जगह यह लिखा है य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद

यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः । जो जीवात्माके अन्तर्गत है जिसे जीवात्मा नहीं जानता जिसका कि वह शरीर है जो जीवात्माका प्रवृत्ति निवृत्ति-रूप नियमन कर रहा है वह अमृत अन्तर्यामी है । इससे मालूम होता है कि अधिकम्—जीवसे ब्रह्म अधिक अर्थात् अर्थान्तर है क्योंकि नियम्य और नियामक दोनों एक नहीं हो सकते ।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः । २–१–२३ ।

च–जीव ब्रह्म नहीं हो सकता उसके न होनेमें यह और कारण है अश्मादिवत्—जिस तरह पत्थर काठ ढेला और तृण इनका ब्रह्म नहीं हो सकता उसी तरह तद्—जीव भी ब्रह्म अनुपपत्तिः—नहीं हो सकता,

जिस तरह पत्थर काठ आदि ब्रह्म नहीं हो सकते उसी तरह जीव भी ब्रह्म नहीं हो सकता ।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि । २–१–२४ ।

उपसंहारदर्शनात्—कर्ता कुलालादिके पास घट बनानेका सामान उपस्थित देखकर यह शंका होती है कि निरुपकरण ब्रह्म न—सृष्टि नहीं बना सकता इति—ऐसा कहो चेत्—तो न—नहीं कह सकते । हि—यह निश्चय है कि ब्रह्म सृष्टिका कारण क्षीरवत्—दूधकी तरह है जैसे दूध दहीका कारण है ।

जैसे दूध, दहीके रूपमें स्वतः परिणत हो जाता है, उसी तरह ब्रह्म भी जगत्के रूपमें परि-णत हो जाता है ।

देवादिवदपि लोके । २–१–२५ ।

लोके—लोकमें अपि—भी विना उपकरणके देवादिवत्—देव आदि संकल्पसे अपनी अभिलषित वस्तुओंको रच लेते हैं उसी तरह ब्रह्म भी संकल्पसे सृष्टि रच लेता है ।

देवता संकल्पसे अपनी मन चाही वस्तु रच लेते हैं फिर ब्रह्म संकल्पसे सृष्टि रच लेता है इसमें आश्चर्य क्या है ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा । २–१–२६ ।

कृत्स्नप्रसक्तिः—संपूर्ण ब्रह्म कार्य्यके रूपमें परिणत हो गया वा—ऐसा स्वीकार न करोगे तो निरवयवत्व—ब्रह्मको निरवयवपना प्रतिपादन करनेवाली शब्दकोपः—श्रुति कुपित होगी।

आपने पहिले तो यह कहा है कि कारणावस्थामें ब्रह्म निरवयव था फिर आपने ऐसा कहा है कि आकाशादि विभाग हो गये, इससे मालूम होता है कि वही निरवयव ब्रह्म कार्य्यरूपसे विभक्त हो गया । यदि ऐसा कहोगे कि ब्रह्मके अंशोंसे ऐसा हुआ तो निरंशवादिनी श्रुति संगत न होगी ।

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् । २–१–२७ ।

तु—ब्रह्मके विषयमें तो इस शंकाको अवकाश नहीं है श्रुतेः—श्रुति ब्रह्मको निरवयव और उससे विचित्रसृष्टिकी उत्पत्ति बताती है श्रुतिके अर्थमें जैसे श्रुति कहै वैसे ही मानना चाहिये । क्योंकि ब्रह्म-का विषय प्रधानरूपसे शब्दमूलत्वात्—शब्दप्रमाणगम्य है ।

सदेव सोम्य इत्यादिक श्रुति ब्रह्मको निरंश बताती है । एवं स ऐक्षत इत्यादि ब्रह्मसे विचित्र सृष्टि कहती है । इन्हीं श्रुतियोंके अनुसार ब्रह्मको मानना चाहिये । इन श्रुतियोंको हम कई जगह लिख चुके हैं, इसलिये यहां उद्धृत नहीं किया है ।

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि । २-१-२८ ।

च—ब्रह्मके कर्ता माननेमें पूर्वोक्त कृत्स्न प्रसक्ति और निरवयवत्वशब्दका कोप नहीं हो सकता हि—यह निश्चय किया हुआ विषय है कि अग्नि और जलके भिन्न होनेपर भी जलमें अग्निकी उष्णता शक्ति आजाती है एवम्—इसी तरह लोकदृष्ट शक्ति ब्रह्ममें भी है । च—और विचित्राः—ऐसी ही अनेक विचित्र शक्ति ब्रह्ममें मौजूद हैं ।

सब भावोंकी शक्ति ब्रह्ममें है, सृष्टिके करनेके समय उन्हींसे सब भाव पैदा किये जाते हैं ।

स्वपक्षदोषाच्च । २-१-२९ ।

च—और स्वपक्षदोषात्—प्रधानकारणवादियोंके पक्षमें भी ये ही दोष होनेसे निर्दोष ब्रह्मकारणवाद आश्रयणीय है ।

निरवयव प्रधान मानते हो उसके महदादिक विचित्र जगत् कैसे बन गया फिर उसके सत्त्व रज तम अवयव भी कैसे, फिर सत्त्व रज और तमसे प्रधान बनता है या इनका समूह प्रधान है । इत्यादि अनेक दोष प्रधानकारणवादपर उपस्थित होते हैं ।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् । २-१-३० ।

च—यह एक और कारण है किससे ब्रह्मकारणवादमें कोई दोष नहीं है । सर्वोपेता—ब्रह्मरूपा परा देवता सब शक्तियोंसे युक्त है क्योंकि तद्दर्शनात् उपनिषदोंमें ऐसा देखा जाता है ।

उपनिषदोंसे ब्रह्मको सत्यकाम और सत्यसंकल्प सर्वकाम आदिशब्दोंसे कथन किया है इससे मालूम होता है, पर देवता सब भावोंकी शक्तिसे संयुक्त है उसीसे आरंभमें सृष्टि एवं उन्हींको प्रलयमें लय करता है ।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् । २-१-३१ ।

विकरणत्वात्—करणरहित किस तरह कार्य्य कर सकता है न—ब्रह्म सृष्टिका कारण नहीं है इति—ऐसा कहो चेत्—तो तदुक्तम्—"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इस सूत्रमें कह चुके हैं ।

श्रुतियोंने जैसे ब्रह्मको सृष्टिका कारण कहा है वैसा ही हम मानते हैं शब्दप्रमाणगम्य बातमें विरुद्धतर्ककी कोई आवश्यकता नहीं है ।

न प्रयोजनवत्त्वात् । २-१-३२ ।

प्रयोजनवत्त्वात्—सृष्टिको सप्रयोजन होनेके कारण न—ब्रह्म सृष्टिका कर्ता नहीं ।

बुद्धिमानोंके आरम्भमें दो प्रयोजन होते हैं एक स्वार्थ और दूसरा परार्थ, स्वभावसे पर्य्याप्त समस्तकामका तो सृष्टिसे कोई निजी स्वार्थ हो नहीं सकता, रही परार्थकी बात सो कोई सहृदय पुरुष दूसरेके लिये इतना दुःख रच नहीं सकता । इतर सृष्टि रचनासे ईश्वरका कोई प्रयोजन नहीं इसलिये ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं ।

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् । २-१-३३ ।

तु—ईश्वरका सृष्टि रचनेका प्रयोजन तो लोकवत्—लोककी तरह लीलाकैवल्यम्—लीला ही केवल प्रयोजन है ।

जिसतरह चक्रवर्ती राजा अपनी लीलासे गेंद वगैरह खेलता है इसीतरह सत्यकाम सत्यसंकल्पका भी सृष्टि रचनेका प्रयोजन केवल लीला मात्र ही है ।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शनम् । २-१-३४ ।

वैषम्य-किसीको देवता एवं किसीको मनुष्य एवं किसीको तिर्यग्योनिमें बनाया यह विषमता एवम् नैर्घृण्ये-अतिघोरतर दुःखोंका योग कर देनेसे निर्दयता ये दो दोष ब्रह्ममें प्राप्त होते हैं । ऐसा कहो तो न-नहीं कह सकते । क्योंकि सापेक्षत्वात्-ईश्वरकी सृष्टि कर्म सापेक्ष है अर्थात् कर्मके अनुसार देव, तिर्यग्, मनुष्य आदि बनाता है । तथा-तैसा हि-ही, दर्शनम्-श्रुति दिखाती है साधुकारी साधु, एवं पापकारी पापी कहाता है ।

न तो ईश्वर पक्षपाती है और न वह किसीको दुःख ही देनेवाला है, जैसे लोगोंके कर्म हैं वैसीही वह व्यवस्था करता है ।

न कर्म्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च । २-१-३५ ।

कर्माविभागात्-सृष्टिसे पहिले क्षेत्रज्ञ नहीं सुना जाता है फिर कर्म भी कहांसे होगा, न-इस लिये कर्मापेक्ष सृष्टि भी न होनी चाहिये अथवा फिर सृष्टि वैषम्य कैसा इति-ऐसा कहो तो न-नहीं कह सकते । क्योंकि अनादित्वात्-क्षेत्रज्ञ और उनके कर्म अनादि हैं उपपद्यते-अनादि होते हुए भी क्षेत्रज्ञ नाम रूपको छोड़कर अतिसूक्ष्म होकर रहता है । च-और उपनिषदोंमें जीवका अनादित्व उपलभ्यतेऽपि-उपलब्ध भी होता है ।

सृष्टिसे पहिले जीव और अपने कर्म-जालको लिये हुए नाम रूपको छोड़ सूक्ष्म सत्तासे ईश्वरमें रहता है जब सृष्टि रचनेका समय होता है अपने कर्मोंके अनुसार जहां तहां जिस तिसमें पैदा हो जाता है ।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च । २-१-३६ ।

च-यह एक और हेतु ब्रह्मको कारण माननेका है कि सर्वधर्म-अन्य अन्य कारणवादियोंने जो कारणधर्मप्रधान और परमाणु आदिमें कहे हैं उन सब धर्मोंकी ब्रह्ममें उपपत्तेः-संघटना हो जाती है ।

अन्य अन्य कारणवादियोंने जो जो धर्म अपने अपने अभिलषित कारणोंमें दिये हैं वे वे सब धर्म ब्रह्ममें संगत होते हैं, इस लिये ब्रह्म ही जगत्का कारण है ।

इति पं०-माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

रचनाऽनुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च । २-२-१ ।

च-और रचना-विचित्र जगत्की रचना, अनुपपत्तेः-जड़ प्रधानसे न हो सकनेके कारण अनुमानम्-अनुमानगम्य प्रधान न-जगत्का कारण नहीं है, च-यह एक और हेतु प्रधानको जगत्का कारण न होनेमें है कि प्रवृत्तेः-आप सांख्यमतवाले यह बता रहे हैं कि प्राज्ञकी संनिधिसे प्रकृति सचैतन्य हो सृष्टि करती है, तब प्रकृति स्वतन्त्र न हुई और कर्ता स्वतन्त्र होता है इस कारण प्रकृति कर्त्री नहीं है अथवा प्राज्ञसे अधिष्ठित प्रकृति प्रवृत्त होती है अनधिष्ठित नहीं।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि । २-२-२ ।

पयः-दूधकी तरह और अम्बुवत्-पानीकी तरह चेत्-स्वतः ही रचना और प्रलयमें प्रवृत्त होता है ऐसा कहो तो नहीं कह सकते कारण तत्र-दूध और पानीमें अपि-भी वह ब्रह्म मौजूद है।

यह बात नहीं है कि अनधिष्ठित दूध दहीके भावको एवं पानी अनेक तरहके रसभावको प्राप्त होता हो, किन्तु ईश्वरसे अधिष्ठित ही दूध और पानी दधि और रसके भावको प्राप्त होते हैं तब अनधिष्ठित प्रकृतिका दूध और पानीकी तरह परिणामी नहीं कहा जा सकता।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् । २-२-३ ।

यह भी एक हेतु है जिससे प्रधान कारण नहीं माना जा सकता, प्रधानको कारण मानोगे तो व्यतिरेकानवस्थितेः-प्रलयकी व्यवस्था न होगी वह सदा अनवस्थित रहेगी । च-और प्रधानके सिवाय दूसरा कोई सृष्टिमें आपको अनपेक्षत्वात्-अपेक्षित नहीं है।

प्रधानकारणवादमें प्रलयकी व्यवस्था न रहनेके कारण प्रधानकारणवाद अच्छा नहीं है।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् । २-२-४ ।

च-और जो आपने यह कहा कि धेनुसे उपभुक्त तृणादिवत्-तृणकी तरह अर्थात् जिस तरह गऊका खाया हुआ तृण अपने आप दूधके रूपमें परिणत हो जाता है उसी तरह प्रधान भी अपने आप ही जगत्के रूपमें परिणत हो जायगा ऐसा कहो तो न-नहीं कह सकते, कारण अन्यत्र तृणादिकोंमें स्वतः परिणाम अभावात्-अभावका होनेसे।

प्राज्ञसे अधिष्ठित ही तृणादिक दूधके रूपमें परिणत होते हैं अनधिष्ठित नहीं होते इसकारण तृणको प्रधानके परिणाममें उदाहरण नहीं दे सकते।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि । २-२-५ ।

पुरुषाश्मवत्-जिस तरह अन्धा और पंगु दोनों मिलकर रास्तेमें चल लेते हैं जिस तरह चुम्बक लोहेको खींच लेता है इसी तरह पुरुष और प्रकृतिके संयोग होनेपर अचेतन भी प्रकृति प्रवृत्त होगी इति-ऐसा कहो चेत्-तो तथापि-इस प्रकारसे भी नहीं कह सकते क्योंकि उनमें भी चैतन्य मौजूद है।

अंगित्वानुपपत्तेश्च । २--२--६ ।

च--और अंगित्वानुपपत्तेः--समपरिणामसे समवस्थितगुण सर्गमें विषमभावसे परिणत होकर अंगांगिभावको नहीं प्राप्त कर सकते ।

सांख्यवाले यह कहते हैं कि प्रलयकालमें सत्त्व रज तम समपरिणामसे समवस्थित रहते हैं वे ही सर्गके समय विषम परिणामसे समवस्थित हो अंगांगिभावको प्राप्त होकर सृष्टि करते हैं ।

इसपर वेदान्ती कहते हैं कि यह अंगांगिभाव बन नहीं सकता क्योंकि समपरिणाममें अवस्था न होनेके कारण न्यूनाधिक न होनेसे सृष्टिकी रचना भी अंगांगिभावसे न होगी यदि विषम परिणामसे मानोगे तो कभी प्रलय ही न होगा ।

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् । २--२--७ ।

च--और अन्यथा--जिस तरह कोई दोष न आवे उसी तरह अनुमितौ--अनुमान करनेपर ज्ञशक्तिवियोगात्--प्रधानमें चेतनके न होनेपर पूर्वोक्त ही दोषोंकी प्राप्ति होगी ।

गुणसाम्यावस्थामें भी वैषम्यका स्वभाव रखते हैं ऐसा भी कहकर प्रधानसे सृष्टि नहीं सिद्ध कर सकते कारण आप प्रधानको जड़ मानते हैं ।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् । २--२--८ ।

अभ्युपगमे--आपकी श्रद्धाका आदर करके हम प्रधानको मान भी लें तो अपि--भी अर्थाभावात्--बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था न हो सकेगी जिसे कि आप प्रधानका प्रयोजन मानते हैं ।

पुरुषोंके भोग और मोक्षके लिये पुरुषके संनिधानसे प्रधान सृष्टि आदिमें प्रवृत्त हो जाता है यह सन्निधान तो नित्य है । इससे मानो बन्ध ही हमेशा रहना चाहिये या मोक्ष ही हमेशा रहना चाहिये तथा अचेतन प्रधानकी प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती ।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् । २--२--९ ।

च--और विप्रतिषेधात्--परस्पर विरुद्ध होनेके कारण सांख्यदर्शन असमञ्जसम्--अयुक्त अथवा असंगत है । सदा अविकार अकर्ता उदासीन कैवल्यस्वरूप पुरुष, साक्षी द्रष्टा और भोक्ता नहीं हो सकता । ऐसे पुरुषको साक्षी आदि कहना यह सांख्यशास्त्रकी सरासर गलती है । तथा और भी बहुतसी ऐसी बातें हैं जो सांख्यमें आपसमें विरुद्ध हैं इस लिये उसे न मानना चाहिये । (रचनानुपपत्त्यधिकरणम्) ।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् । २--२--१० ।

वा--और परमाणुकारणवाद भी ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्--द्व्यणुक और परमाणुसे महद्दीर्घवत्--त्र्यणुकोत्पत्तिके परिमाणवादकी तरह सब असमजस है ।

परमाणुकारणवादीने वेदान्तियोंसे कहा था कि यदि आप चेतन ब्रह्मको विश्वका कारण मानते हैं तो कारण ब्रह्मगतचैतन्य गुण विश्वमें समवायसंवन्धसे रहना चाहिये पर तमाम विश्वमें चैतन्य नहीं देखा जाता इस लिये चेतन ब्रह्म विश्वका कारण नहीं किन्तु परमाणु ही विश्वके कारण हैं ।

परमाणुकारणवादकी प्रक्रिया भी यथास्मरण लिखते हैं—प्रलय कालमें सब परमाणु आपसमें जुदे जुदे एवं क्रियारहित रहते हैं, ईश्वरकी इच्छानुसार पुण्यपापयुक्त जीवोंके संयोगसे परमाणुमें आरंभके अनुकूल क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे विभाग होता है । इसके बाद पूर्वसंयोगनाश और आरंभक संयोग होता है, तब दो अणु मिलकर द्व्यणुक हो जाते हैं,तीन द्व्यणुक मिलकर एक त्रसरेणु होता है और चार द्व्यणुक मिलकर एक चतुरणुक होता है। इसी तरह मिलते २ भूमिके परमाणुओंसे भूमि तथा जलीय परमाणुओंसे जल एवं वायवीय परमाणु आदिसे महावात आदि उत्पन्न होते हैं ।जैसे इनके कारण परमाणुओंमें गुण हैं उतने उत्कृष्ट गुणवाले इनके कार्य्य होते जाते हैं;पर परमाणुका जो परिमाण जिसे पारिमाण्डल्य भी कहते हैं वह अपने कार्य्य द्व्यणुकके परिमाणका आरंभक नहीं होता तथा द्व्यणुकका अणु ह्रस्वपरिमाण त्र्यणुकके महद्दीर्घ परिमाणके आरंभक नहीं होते, क्योंकि कारणका परिमाण अपनेसे उत्कृष्ट परिमाणका अपने कार्य्यके परिमाणका आरंभ करता है । परिमाण चार हैं:—अणु,महत्,दीर्घ, ह्रस्व । अणुपरिमाणवाले कारणको अणुमान् कार्य्य अणुतर कर देगा, एवं ह्रस्वके परिमाणको परिमाण ह्रस्वतरका आरंभक होगा, पर ऐसा देखा जाता नहीं इस कारण अणु और ह्रस्वको परिमाणारंभक नहीं मानते ।

इसपर वेदान्ती कहते हैं कि जिस तरह आपके यहाँ ह्रस्व और अणु परिमाणसे महद् दीर्घ नहीं हो सकते उसी तरह और भी सव आपका कहा हुआ असंगत है ।

उभयथाऽपि न कर्म अतस्तदभावः । २–२–११ ।

उभयथा—आत्मामें समवस्थित अदृष्टसे अथवा परमाणुमें समवस्थित अदृष्टसे अपि—भी कर्म—आप कर्म न—नहीं हो सकता, कारण कि अदृष्ट अचेतन तथा अणु भी अचेतन हैं,अचेतन अचेतनसे प्रवृत्त नहीं हो सकता, अतः—इस कारण तदभावः—अणुमें कर्म होकर उस कर्मसे अणुसंयोगपूर्वक सृष्टि नहीं होती ।

परमाणुगत प्रथम कर्मका दोनों तरह ही होना असंभव है, इस कारण परमाणुमें आदिकर्मका होना मुसकिल है ।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः । २–२–१२ ।

च—और समवायाभ्युपगमात्—पृथक् न दीखनेवाले जातिगुणकर्मके द्रव्यमें रहनेके लिये जो आपने समवायको माना है इस कारण भी आपका सव असमंजस है, कारण कि साम्यात्—जातिगुणकर्मकी ही तरह समवाय है, जब इनके निर्वाहके लिये समवाय मानते हो तो समवायके रहनेके लिये भी एक समवाय मानना चाहिये । यदि समवायके लिये भी समवाय और उसके लिये भी समवाय मानोगे तो मान नहीं सकते, क्योंकि अनवस्थितेः—समवायकी व्यवस्था न रहेगी ।

द्रव्य-गुण–कर्म-सामान्यकी तरह समवायको भी वैशेषिकोंने एक पदार्थ माना है, इसका प्रयोजन यह है कि वैशेषिक परिकल्पित आधारसे जिस आधारकी पृथक् स्थिति न देखी जाय वहां उनका समवायसम्बन्ध समझना चाहिये ।

वेदान्ती यहां यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि औरोंकी तरह समवाय भी एक पदार्थ है, समवाय किस सम्बन्धसे रहता ? है इसे तो जरा बताइये, यदि समवायके लिये समवाय मानोगे तो उसके लिये भी समवाय और उसके लिये भी समवाय इस तरह समवायोंकी ऐसी परंपरा चलेगी कि कोई ठिकाना ही न रहेगा । वैशेषिकने इसे माना है इसलिये उसका यह मत ठीक नहीं है ।

नित्यमेव च भावात् । २--२--१३ ।

च–और भावात्–समवायसम्बन्धके नित्य होनेपर उसका सम्बन्धी जगत् भी नित्यमेव–हमेशा ही होना चाहिये ।

आप समवायसम्बन्धको नित्य मानते हैं तो उसका सम्बन्धी जगत् भी सदा ही रहना चाहिये; सो आपके यहां नित्य रहता नहीं ।

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्य्ययो दर्शनात् । २–२–१४ ।

च–और रूपादिमत्वात्–आप परमाणुओंमें रूपआदिगुण बता रहे हो तो आपके मतानुसार परमाणुओंको रूपादिमान होनेसे विपर्य्ययः–परमाणु नित्य नहीं हो सकते, क्योंकि दर्शनात्–रूपादि-वाले घटादिक विनाशी देखे जाते हैं ।

परमाणु रूपादिगुणवाले हैं इसलिये नित्य नहीं हो सकते ।

उभयथा च दोषात् । २–२–१५ ।

च–और उभयथा–दोनों तरह यानी रूपादिवाला न माननेपर भी दोषात्–दोष होनेसे ।

रूपादिकगुणवाला माननेपर तो अनित्यत्वापत्ति दोष है तथा रूपादिवाला न माननेपर आपके नियमसे निर्गुण कारणसे पृथिवी आदि भी निर्गुण होने चाहिये सो हैं नहीं ।

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा । २--२--१६ ।

च–और इस कणादपक्षका तो अपरिग्रहात्–वैदिकोंसे किसी भी अंशमें स्वीकार न होनेके कारण अत्यन्तम्–अत्यन्त ही अनपेक्षा–उपेक्षा दृष्टि मुमुक्षुओंको करनी चाहिये ।

इस कणादके कारणवादको तो किसी भी अंशमें वेदान्तियोंने स्वीकार नहीं किया है; इसलिये मोक्ष चाहनेवालोंको इधर ध्यान न देना चाहिये । (महद्दीर्घाधिकरणं समाप्तम्) ।

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः । २--२--१७ ।

उभयहेतुके–अणुओंसे जो पृथिवी आदि बनती हैं एवं पार्थिवादिक जो इन्द्रियादिक हैं इन दोनोंके समुदाये–संघातमें अपि–भी तदप्राप्तिः–जगत्रूप समुदायकी उत्पत्ति संगत नहीं हो सकती ।

बौद्धोंका पहिला सिद्धान्त है कि सब दुःखरूप हैं, दूसरा उपदेश है कि सब पदार्थ क्षणिक हैं, तीसरा उपदेश है कि सब पदार्थ अपने स्वभावसे निबद्ध हैं, चौथा उपदेश है कि असली तत्त्व शून्य है यही भावनाचतुष्टय करके बौद्धोंके यहां प्रसिद्ध हैं । दुःख–रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार, इन पांचोंको कहते हैं, परमाणुपुंजसे बने हुए भूत भौतिक इन्द्रियोंके साथ रूपस्कन्ध कहाते हैं । बोधको विज्ञान कहते हैं, वह दो तरहका है–आलय और प्रवृत्ति । इस आलय विज्ञानको ही ये आत्मा कहते हैं, दूसरा इसका नाम चित्त भी है, विषयके साथ इन्द्रियोंके सम्बन्ध होनेपर जो नाम, जाति आदिका बोध होता है उसे संज्ञास्कन्ध कहते हैं । राग द्वेष मोह महामोह धर्माधर्म आदिक संस्कारस्कन्ध कहलाते हैं । भूत भौतिक एवं चित्त और चैत्य मिलकर संसारयात्राका निर्वाह करते हैं, इसपर व्यासदेवजीने उक्त सूत्र किया है, इसका आशय यह है कि सबके क्षणिक होनेसे आपके परमाणु भी क्षणिक ही ठहरे तो कब वे होंगे और कब वे संयुक्त होकर भूतोंको बनायेंगे, उन्हें एक

क्षण रहना है दूसरे क्षण नष्ट हो जाना है, इस कारण इस क्षणिक वादयुक्त परमाणुवादमें किसी तरह भी जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न, सङ्घातभावानिमित्तत्वात् । २–२–१८ ।

इतरेतरप्रत्ययत्वात्–आपसमें एक दूसरेका कारण होनेसे उपपन्नम्–संघातभाव और लोकयात्राका निर्वाह हो जायगा इति–ऐसा कहो चेत्–तो न–नहीं कह सकते, क्योंकि संघातभावानिमित्तत्वात्–यह संघातके होनेमें निमित्त नहीं हो सकते ।

बौद्ध यह कहते हैं कि यद्यपि सब क्षणिक हैं पर तो भी क्षणिकको लोग नित्य समझते हैं । उनकी जो यह विपरीत बुद्धि है उससे रागद्वेष आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं, उससे विज्ञान होता है, विज्ञानसे नाम अथवा संज्ञावाले चित्त चैत्य होते हैं, इसके पीछे रूपी द्रव्य एवं उससे छः इन्द्रिय तथा उससे स्पर्शरूप शरीर और उससे सुखदुःखोंके अनुभव होते हैं । इनसे फिर अविद्या और अविद्यासे फिर ये सब इस तरह यह चक्र सदा घूमता रहता है, इस तरह लोकयात्रामें कोई झगडा नहीं है यह पूर्वपक्ष था।

इसका उत्तर यह है कि क्षणिकोंको स्थिर माननेवाली बुद्धि अविद्या, उससे उत्पन्न हुए रागादिक क्षणिककी संहतिके हेतु नहीं हो सकते, क्योंकि क्षणिकमें स्थिरपनेकी बुद्धि भी तो क्षणिक है वह लो उसी समय नष्ट हो गयी फिर रागादिकोंको कैसे पैदा करेगी ?

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् । २–२–१९ ।

च–और यह कहो कि पूर्वक्षण उत्तरक्षणका हेतु है सो भी नहीं कह सकते,क्योंकि उत्तरोत्पादे–उत्तरक्षणके होनेमें पूर्वनिरोधात्–पूर्वक्षण नष्ट हो जायगा ।

पूर्व उत्तरका कारण है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि अभावहेतु नहीं होता, यदि अभाव ही हेतु हो तो सबके अभावमें सब जगह सब हो जाना चाहिये, सांख्यकी कारिका–"असदकरणाद् उपादानग्रहणात्" इसमें सांख्यतत्त्वकौमुदी और भाष्यमें विस्तारके साथ कहा है ।

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा वा । २–२–२० ।

असति–विना हेतुके कार्य्यकी उत्पत्ति मानोगे तो प्रतिज्ञोपरोधः–जो आपने यह प्रतिज्ञा अपने दर्शनमें की है कि विना कारणके कार्य्य नहीं होता इसकी अवहेलना होगी । अन्यथा वा–पूर्वक्षणके पदार्थ या क्षणके स्थित रहनेपर दूसरे भावीक्षणवाले ब्राह्मणकी उत्पत्ति हो जाती है, ऐसा मानोगे तो यौगपद्यम्–दोनोंकी एक ही कालमें उपलब्धि होनी चाहिये ।

आपने विज्ञानकी उत्पत्तिमें इंद्रियादिक हेतु माने हैं, यदि विना हेतुके उत्पत्ति मान लोगे तो आपकी प्रतिज्ञा भंग होगी । प्रथम क्षणको द्वितीय क्षणमें कारण मानोगे तो दोनोंकी एक साथ उपलब्धि होनी चाहिये, स्थिर मानोगे तो तुम्हारी क्षणिकत्ववाली प्रतिज्ञामें विरोध होगा, इस कारण असत् उत्पन्न नहीं होता ।

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् । २–२–२१ ।

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः–प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोधकी प्राप्ति न होगी, कारण कि अविच्छेदात्–सत्का निरन्वय विच्छेद नहीं हो सकता ।

प्रतिसंख्या–विद्यमानभावको अविद्यमान करूँ इस बुद्धिको प्रतिसंख्या कहते हैं, इस बुद्धिसे होनेवाले विनाशको प्रतिसंख्या निरोध कहते हैं । इस बुद्धिके विना जो निरोध नहीं है उसे अप्रतिसंख्या निरोध कहते हैं । सत्का अन्वयरहित निरोध नहीं हो सकता, इस कारण प्रतिसंख्या और अप्रतिसंख्या निरोधकी प्राप्ति नहीं है ।

उभयथा च दोषात् । २–२–२२ ।

च–और उभयथा–दोनों तरह दोषात्–दोष होनेसे।

तुच्छसे तुच्छकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, यदि तुच्छसे उत्पत्ति मानोगे तो तुच्छरूप ही कार्य्य होगा, पर आप जगत्को तुच्छात्मक नहीं मानते और न जगत् तुच्छ प्रतीत ही होता है । सत्के अन्वयरहित विनाश होनेपर एक क्षणके पीछे संपूर्ण जगत् ही तुच्छ हो जायगा, पीछें तुच्छसे तुच्छकी उत्पत्ति होनी चाहिये । इसप्रकार दोनों तरह दोष होनेसे आपके कहे मुताबिक उत्पत्ति और विनाश नहीं है ।

आकाशे चाविशेषात् । २–२–२३ ।

च–और आकाशे–आकाशमें अर्थात् आकाशको केवल पृथिवी आदिका अभाव कहना ठीक नहीं है, कारण कि अविशेषात्–पृथिवी आदिकी तरह आकाशकी भी प्रतीति होती है ।

पृथिवी आदिका कैसा भी अभाव आकाश नहीं है; किन्तु पृथिवी आदिकी तरह आकाश भी है ।

अनुस्मृतेश्च । २–२–२४ ।

च–और अनुस्मृतेः–अनुभव करनेवाला अपने पूर्वानुभूत विषयको स्मरणके कारण उपस्थित होनेपर स्मरण कर लेता है, यदि सब ही क्षणिक हो तो वह स्मरण नहीं कर सकता और ऐसा ही हो तो आपका अनुभव हमें क्यों नहीं आ जाता ?

नासतोऽदृष्टत्वात् । २–२–२५ ।

असतः–विनष्ट अर्थका नीलादि आकार ज्ञानमें न–नहीं हो सकता, क्योंकि अदृष्टत्वात्–धर्मीके नाश होनेपर उसके धर्मका संक्रमण दूसरे पदार्थमें नहीं देखा जाता ।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः । २–२–२६ ।

च–और एवम्–इसतरह क्षणिकपना तथा असत्से उत्पत्ति और अकारण विनाश मानोगे तो उदासीनानाम्–उदासीनोंको अपि–भी सिद्धिः–सर्वार्थसिद्धि होनी चाहिये ।

इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टका परिहार प्रयत्नसे होता है, क्षणध्वंसपक्षमें पूर्वभावोंका संस्कार उत्तरभावमें अनुवर्तित न होनेके कारण प्रयत्नसाध्य कुछ भी न होगा । विना कारणके होनेमें सबको मोक्ष आदि स्वतः ही प्राप्त हो जाना चाहिये । (समुदायाधिकरणं समाप्तम्) ।

नाभाव उपलब्धेः । २–२–२७ ।

उपलब्धेः–ज्ञाताके ज्ञानकी अर्थविशेषोंके व्यवहारकी योग्यता सम्पादनरूपसे उपलब्धि होनेके कारण अभावः–ज्ञानातिरिक्त पदार्थका अभाव न–नहीं स्वीकार किया जा सकता ।

योगाचार विज्ञानमात्रका अस्तित्व मानते थे, उनके लिये यह सूत्र किया है कि ज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थका अभाव नहीं कह सकते, कारण वस्तुकी उपलब्धि होती है ।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् । २–२–२८ ।

च–और वैधर्म्यात्–स्वप्नके ज्ञानसे जाग्रत्के ज्ञानको विलक्षण होनेके कारण स्वप्नादिवत्–स्वप्नादिकोंकी तरह न–जाग्रत्के पदार्थ असत् नहीं हैं ।

स्वप्नमें पदार्थके रहनेपर भी उनका ज्ञान रहता है, इसी तरह जाग्रत्के भी पदार्थ न–नहीं रहते उनका ज्ञान रहता है; ऐसा कहो तो नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्नज्ञान और जाग्रतके ज्ञान भिन्न हैं, निद्रादि दोषोंसे स्वप्नज्ञान होता है पर जाग्रत् ऐसा नहीं है ।

न भावोऽनुपलब्धेः । २-२-२९ ।

भावः–केवल पदार्थशून्य ज्ञानकी सत्ता न–नहीं होती, क्योंकि अनुपलब्धेः–पदार्थशून्यज्ञान कहीं देखा नहीं जाता ।

कहीं भी पदार्थशून्य ज्ञान नहीं रहता, इसलिये आप भी अर्थशून्य ज्ञान रहता है यह नहीं कह सकते । (उपलब्ध्यधिकरणं समाप्तम्) ।

सर्वथाऽनुपपत्तेश्च । २–२–३० ।

च–और सर्वथा–सबतरह शून्यपनेकी अनुपपत्तेः–उपपत्ति न होनेके कारण शून्यवाद उपयुक्त नहीं है ।

सद्वस्तुकी ही भाव और अभाव ये दो अवस्था हैं तब सबको शून्य कहनेका भी तात्पर्य सबको सत् कहनेका होगा । यदि आप प्रमाणसे शून्य सिद्ध करते हुए उस प्रमाणको सत्य मानोगे तो आपका शून्यवाद चला जायगा । (सर्वथाऽनुपपत्यधिकरणं समाप्तम्)

नैकस्मिन्नसंभवात् । २--२--३१ ।

एकस्मिन्–एकवस्तुमें सद् और असद्धर्म न–नहीं रह सकते, क्योंकि असम्भवात्–एकमें दो धर्मोंका होना नहीं हो सकता ।

जिस तरह छाया और आतप दोनों एक स्थलमें नहीं रह सकतीं उसी तरह एकमें सत्त्व और असत्त्व दोनों नहीं रह सकते । पर जैन ऐसा मानते हैं ।

एवं चात्माकार्त्स्न्यम् । २–२–३२ ।

च–और एवम्–ऐसे आपके मतमें आत्माकार्त्स्न्यम्–आत्माको अपरिपूर्णता प्राप्त होगी ।

जैन आत्माको असंख्यात प्रदेश देहमात्रपरिमाणवाला मानते हैं, जो आत्मा हाथीके शरीरमें अवस्थित है वह उसे छोड़कर चींटीका शरीर लेतीवार उसमें कैसे समा सकेगा ?

न च पर्य्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः । २–२–३३ ।

च–और पर्य्यायात्–आत्माके संकोच विकाशरूप पर्य्यायसे हाथीमें रहनेवाला आत्मा संकुचित होकर चींटीमें प्रविष्ट हो जायगा; कोई दोष नहीं है ऐसा कहोगे तो न–नहीं कह सकते, क्योंकि पर्य्यायसे अपि–भी अविरोधः–अविरोध नहीं है किन्तु विरोध ही है, कारण कि विकारादिभ्यः–संकोच विकास रूप विकारप्रयुक्त अनित्यत्वादिक दोष आत्माको प्राप्त होंगे इस आत्माकी नित्यता चली जायगी ।

पर्याय माननेपर आत्माको विकारी मानना पड़ेगा इसलिये पर्य्याय माननेपर भी विरोधका परिहार नहीं होता ।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः । २-२-३४ ।

च-और जैन शास्त्र ऐसा मानते हैं कि जीव प्रदेशोंकी अपेक्षा लोकाकाश जितना है वह दीपककी तरह संकोच विस्तार स्वभावके कारण शरीरके बराबर है परन्तु मुक्तजीव अन्तिम शरीरसे त्रिभाग न्यून है। इसपर वेदान्ती शंका करते हैं कि अन्त्यावस्थितेः-जीवका जो मोक्षदशामें त्रिभाग-न्यून जो परिमाण है वह मोक्षके नित्य होनेसे नित्यावस्थायी है इस कारण उभयनित्यत्वात्-मोक्ष और मोक्षके जीवपरिमाणको नित्य होनेसे अविशेषः-वही आत्माका स्वाभाविक परिमाण समझा जायगा तब पूर्वके परिमाणसे कुछ विशेष नहीं रहेगा।

मोक्षदशामें जो जीवका त्रिभागन्यून परिणाम माना है उसके माननेमें पूर्व परिमाण है, उसका पूर्वोक्त प्रकारसे खण्डन होता है। (एकस्मिन्नसंभवाधिकरणं समाप्तम्)

पत्युरसामञ्जस्यात् । २-२-३५ ।

पत्युः-पशुपतिका मत अनादरणीय हैं, क्योंकि असामञ्जस्यात्-यह परस्पर विरुद्ध है ।

छः मुद्राओंका धारण भगासनपर बैठकर आत्मध्यान तथा सुराकुंभको स्थापन करके उसपर देवता बिठाकर उसका पूजन, गुप्ताचार, स्मशानकी भस्मका धारण, प्रणवपूर्व अभिध्यान, ये आपसमें एक दूसरेके विरुद्ध हैं ।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च । २-२-३६ ।

सम्बन्ध नहीं घट सकता; अनुपपत्तेः-अनुपपन्न होनेसे ।

स्वस्वामिभावादिसम्बन्ध जैसे सकारणक होते हैं, इस तरह ब्रह्म व प्रकृति-पुरुष इनमें कोई प्रकारसे समवाय-संयोगादि सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता ।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च । २-२-३७ ।

च-और अधिष्ठानानुपपत्तेः-कुंभकारके शरीर होनेके कारण वह निमित्त कारण हो सकता है, पर पशुपतिके शरीर न होनेके कारण प्रधानका अधिष्ठाता नहीं हो सकता ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः । २-२-३८ ।

करणवत्-जीवकी तरह अशरीर जीव इन्द्रिय और शरीरका अधिष्ठाता है उसी तरह अशरीर पशुपति प्रधानका अधिष्ठाता और प्रधान अधिष्ठान हो चेत्-ऐसा कहो तो न-नहीं कह सकते, क्योंकि भोगादिभ्यः-पुण्यपापरूप फलके भोग आदिसे जीवका अधिष्ठान हो सकता है पर आपके पशुपतिमें तो कोई पुण्य पाप नहीं है ।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा । २-२-३९ ।

अन्तवत्त्वम्-पशुपतिको भी अदृष्ट मानोगे तो उसे अन्तवाला मानना पड़ेगा । वा-अथवा असर्वज्ञता-असर्वज्ञता भी प्राप्त होगी ।

अदृष्ट माननेसे उसे भी सुखदुःख भोगने पड़ेंगे । जैसे जीवको सृष्टिके संहार आदिका कुछ पता नहीं है उसी तरह ईश्वरको भी अपने अदृष्टसे वशवर्ती होनेके कारण कुछ पता न रहेगा। (पशुपत्यधिकरणं समाप्तम्)।

उत्पत्त्यसंभवात् । २-२-४० ।

भागवतने ऐसा कहा है कि परमकारणभूत परब्रह्म वासुदेवसे संकर्षणनामका जीव हुआ, संकर्षणसे प्रद्युम्ननामका मन हुआ, उससे अनिरुद्धनामवाला अहंकार उत्पन्न हुआ, इसपर वेदान्ती कहते हैं कि जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस कारण यह भी प्रक्रिया गलत है ।

न च कर्त्तुः करणम् । २-२-४१ ।

च-और कर्त्तुः-कर्ता जीवसे करणम्-व्यापारसाधन करण मन न-नहीं हो सकता, जिसतरह जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी तरह जीवसे मनकी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः । २-२-४२ ।

वा-अथवा विज्ञानादिभावे-इन संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धको परमात्माके ही रूप समझनेपर तदप्रतिषेधः-इनका जीवादिशब्दसे कथन करना कोई विरुद्ध नहीं है । जैसे आकाश प्राणादिशब्दोंसे ब्रह्मका विधान किया जाता है ।

विप्रतिषेधाच्च । २-२-४३ ।

च-और विप्रतिषेधात्-जीवकी उत्पत्तिका भागवतमें भी प्रतिषेध होनेसे जीवकी उत्पत्ति नहीं होती। भागवतने कहा है कि-"व्याप्तिरूपेण संबंधस्तस्याश्च पुरुषस्य च । स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः" प्रकृति और पुरुषका आपसमें व्याप्तिरूप सम्बन्ध है, परमार्थरूपसे वह पुरुष अनादि और अनन्त है । यह श्री०भा०में भी जीवको नित्य लिखा हुआ है । (उत्पत्त्यसंभवाधिकरणं समाप्तम्)

इति पं०माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

न वियदश्रुतेः । २-३-१ ।

वियत्-आकाश न-उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि अश्रुतेः-उत्पन्न हुआ सुना नहीं जाता ।

सूत्रकार आकाशके कर्तृत्वनिश्चयके लिये पूर्वपक्ष कहते हैं कि आकाश उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि उत्पन्न हुआ सुना नहीं जाता ।

अस्ति तु । २-३-२ ।

तु-यह बात नहीं है कि आकाशकी उत्पत्ति नहीं है किन्तु अस्ति-आकाशकी उत्पत्ति है ।

आकाशकी भी उत्पत्ति सुनी जाती है कि आत्मासे ही आकाश उत्पन्न हुआ । तैत्तिरीय उपनिषद्में श्रुति है कि एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः । इसी आत्मासे क्रमप्राप्त आकाश उत्पन्न हुआ ।

गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च । २-३-३ ।

असंभवात्-आकाश उत्पन्न नहीं हुआ इस कारण आकाशकी उत्पत्ति कहनेवाली तैत्तिरीयकी श्रुति गौणी-गौण है च-असंभवके सिवा यह एक और हेतु है कि शब्दात-वृ०वायुश्चान्तरिक्षं चैतद-

मृतम् २–३–२ में वायु और आकाश दोनोंको अमर कहा है ।

आकाशकी उत्पत्ति होनी असंभव है, दूसरी श्रुति आकाशको अमर बता रही है, इस कारण आकाशकी उत्पत्ति बोधन करनेवाली श्रुति गौण है मुख्य नहीं है ।

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् । २–३–४ ।

एकस्य–एक संभूत शब्दको ब्रह्मशब्दवत्–ब्रह्मशब्दकी तरह स्यात्–एक स्थलमें मुख्यता और दूसरे स्थलोंमें गौणता हो सकती है ।

इस " तस्मादेतद् ब्रह्म " "तपसा चीयते ब्रह्म " मुण्डकोपनिषद्में ब्रह्म विज्ञानके साधन तप तथा ब्रह्म दोनोंमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग देखा जाता है, इसी तरह आकाशमें संभूतशब्द गौण एवम् वायु, अग्नि आदिके सम्पर्की सम्भूतशब्दको मुख्य समझना चाहिये । पहिली श्रुतिमें कहा है कि इसलिये यह तप ब्रह्म है तथा दूसरीमें कहा है कि तपसे ब्रह्मका चयन होता है, पहलीमें तपको तथा दूसरीमें ब्रह्मको ब्रह्म कहा है ।

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् । २–३–५ ।

अव्यतिरेकात्–ब्रह्मसे इतर कुछ न माननेपर ही प्रतिज्ञाहानिः–छा० ६ में यह जो प्रतिज्ञा की है कि जिस एकके ज्ञानसे विना सुना, विना देखा, विना विचारा भी सुन लिया जान लिया, और विचार लिया जाता है उसमें कोई हानि नहीं होती ।

छा० ६ में जो यह प्रतिज्ञा की है कि एक ब्रह्मके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है यह तभी सिद्ध हो सकती है जब ब्रह्मसे जुदा कुछ न माने, इसलिये आकाशकी उत्पत्तिबोधन करनेवाली श्रुति गौण नहीं मुख्य है यह निश्चित सिद्धान्त है ।

शब्देभ्यः । २–३–६ ।

शब्देभ्यः–सृष्टिसे पहिले एक ब्रह्म ही था, इस सब संसारकी वही आत्मा है ऐसा श्रुतियोंने बताया है, इससे आकाशादिक सबका ब्रह्म उपादान है यह सिद्ध होता है ।

कौन पहिले और कौन पीछे यह तो श्रुतिसमन्वयसे विदित होता है, आकाशकी उत्पत्ति तेजसे पहिली है ।

यावद् विकारं तु विभागो लोकवत् । २–३–७ ।

तु–यह एक और कारण आकाशको कार्य्य होनेमें है कि यावद् विकारम्–जितना भी यह सब कार्य्यजात है उसे यह कह देनेसे कि–ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् यह सब कार्य्यजात ब्रह्मोपादानकारणक है यह कहनेसे विभागः–सबकी ब्रह्मसे उत्पत्ति कह दी गयी चाहे जुदी दिखाई गयी हो चाहे न दिखाई गई हो । लोकवत्–लोककी तरह जैसे लोक देवदत्तके लड़कोंका निर्देश करके कह देते हैं कि ये देवदत्तके लड़के हैं, बादमें एककी उत्पत्ति कहनेसे समझ लिया जाता है कि ये भी इसी तरह उत्पन्न हुए होंगे ।

सब कार्य्यमात्रको कह दिया गया है कि सब ब्रह्मके ही कार्य्य हैं, कुछ की उत्पत्ति भी बता दी कि इस तरह उत्पन्न हुए, फिर जिनकी उत्पत्ति न बतायी हो उनकी उत्पत्ति भी बताये हुओंकी तरह

ही समझना चाहिये। सबकी तरह आकाश और वायु भी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं, चिरकालस्थायी हैं इस लिये अमर कहे जाते हैं।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः। २-२-८।

एतेन--पूर्वोक्त हेतुसे मातरिश्वा--वायु अर्थात् वायुकी उत्पत्ति भी व्याख्यातः--कह दी--आकाशकी तरह वायु भी ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है।

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः। २-३-९।

सतः--सद्ब्रह्मकी तु--ही तो असम्भवः--उत्पत्ति नहीं है बाकी सबकी उत्पत्ति है, क्योंकि अनुपपत्तेः--सद्ब्रह्मकी उत्पत्ति बन नहीं सकती।

एक ब्रह्मके विज्ञानसे सबका विज्ञान होना कहा गया है इसलिये सब ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्म किसीसे उत्पन्न नहीं होता। सद्ब्रह्मकी सद्ब्रह्मसे उत्पत्ति कहो तो दोनोंमें विलक्षणता होनी चाहिये। यदि सद्ब्रह्मका कारण सद्ब्रह्म विलक्षण कहो तो असद्वादका प्रसंग होकर महा अनिष्ट होगा, क्योंकि श्रुति असद्वादको निषिद्ध कर चुकी है, इसलिये ब्रह्मका कोई कारण नहीं है। (वियदधिकरणं समाप्तम्)।

तेजोऽतस्तथा ह्याह। २-३-१०।

अतः--वायुसे तेजः--तेज उत्पन्न होता है, क्योंकि तथा--ऐसा हि--ही आह--श्रुति कहती है। वायोरग्निः यह तैत्तिरीयकी श्रुति वायुसे तेजकी उत्पत्ति मानती है, वायुसे तेजकी उत्पत्ति हुई।

आपः। २-३-११।

आपः--तेजसे जल उत्पन्न होते हैं। अग्नेरापः इस श्रुतिने अग्निसे जलकी उत्पत्ति कही है।

पृथिवी। २-३-१२।

जलसे अद्भ्यः पृथिवी उत्पन्न हुई है।

अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः। २-३-१३।

छा०उ०में तो तेजसे पीछे अन्नकी उत्पत्ति कही गयी है, आप पृथिवीकी उत्पत्ति कैसे कह रहे हैं? इसका उत्तर इस सूत्रसे देते हैं। अधिकार--छा० के पूर्वोक्त प्रकरणमें भूतोंकी उत्पत्तिका अधिकार चल रहा है इससे एवम्रूप--कृष्णरूप जो अन्नका कहा गया है इससे तथा शब्दान्तरेभ्यः--तैत्तिरीयमें जलसे पृथिवीकी उत्पत्ति कही गयी है इससे छान्दोग्यके अन्नशब्दको पृथिवीका ही उपलक्षक समझना चाहिये।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः। २-३-१४।

तदभिध्यानात्--आकाश आदिरूपी पुरुषोत्तमके संकल्पसे एव--ही वायु आदि उत्पन्न होते हैं, तु--स्वयं आकाशादि तो उत्पन्न नहीं करते। तल्लिंगात्--आकाशादि सबमें ब्रह्मकी स्थिति श्रुति बताती है इस कारण सः--वह पुरुषोत्तम ही कारण है।

पुरुषोत्तमके ही संकल्पसे आकाश आदिसे वायु आदि उत्पन्न होते हैं इस कारण वही कर्ता है तथा आकाश आदिमें ब्रह्मकी स्थिति श्रुति बताती है।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च । २-३-१५ ।

च-और अतः-अव्यक्त महद् अहंकार आकाशादिसे विपर्ययेण-उलटा क्रमः-क्रम तु-तो प्राणआदिका है, अर्थात् अव्यक्त महद्अहंकार आकाशादिकमें क्रम यह था कि तत्तद्रूपसे तत्तद्आकाशादि कार्य्य होते हैं। किन्तु का. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च-यह जो साक्षात् ब्रह्मसे प्राण आदिकी उत्पत्ति सुनी :जा रही है इसके समन्वयके लिये मानना होगा कि ये साक्षात् ब्रह्मसे उपपद्यते-हुए तबही श्रुतिका समन्वय होस केगा।

अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् । २-३-१६ ।

क्रमेण-क्रमद्वारा वा क्रमसे अन्तरा-प्राण और ख-आकाशके बीचमें विज्ञानमनसी-मन और इंद्रिय उत्पन्न होते हैं। तल्लिंगात्-जब आकाशादिकोंमें क्रम है तो वही क्रम यहां भी होना चाहिये? इति-ऐसा कहो चेत्-तो न-नहीं कह सकते, कारण कि अविशेषात्-मु० २-१-३में जो यह कहा गया है कि इस ब्रह्मसे प्राण, मन, इंद्रिय और आकाश वायु ज्योति आप पृथिवी हुई यह साधारण कह दिया गया है क्रम विवक्षित नहीं है।

पहिले पूर्वपक्ष किया गया था कि जैसे भूतसृष्टि परंपरासे होती है उसी तैत्तिरीयकी श्रुतिकी तरह मु० २-१-३ में जो प्राणादि सृष्टि कही गयी है वह भी परंपरा एवं उसी क्रमसे होनी चाहिये, इसका दो सूत्रोंसे उत्तर दिया गया है कि जैसे भूतोंमें क्रम कहा है वह क्रम यहां भूतोंसे उलटा अर्थात् परंपराको छोड़कर सबकी ब्रह्मसे उत्पत्ति कही गयी है और क्रम नहीं कहा गया है, न यह श्रुति क्रमपरक है; अन्य श्रुतियोंके साथ इसकी भी एकवाक्यता समझनी चाहिये।

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् । २-३-१७ ।

तु-सब शब्दोंको ब्रह्मवाची होनेपर भी नामोंसे पृथिवी आदिक नामीपदार्थोंका ग्रहण होगा, क्योंकि तद्व्यपदेशः-पृथिवी आदि पदार्थोंका शब्दसे निर्देश चराचरव्यपाश्रयः-स्थावर और जंगम पृथिवी आदिके अधीन है, भाक्तः-वह अपने व्युत्पन्न अर्थ अथवा शक्य अर्थको कह देता है, क्योंकि तद्भावभावित्वात्-सर्व शब्द ब्रह्मके वाचक हैं यह ज्ञान सब पदार्थोंके प्रकारीभूत ब्रह्मकी प्रतीति होनेके पीछे होता है। अथवा तु-यह बात नहीं है कि सब शब्द ब्रह्मके ही वाचक हैं, फिर अपने पृथिवी आदि पदार्थोंको किसतरह कहेंगे। किन्तु चराचरव्यपाश्रयः-तत्तत्शब्दवाच्य स्थावर जंगम पदार्थोंको व्यपदेश याने निर्देशके अधीन । तत्व्यपदेशः-ब्रह्मका निर्देश है इसलिये भाक्तः-ब्रह्ममें गौण-निर्देश स्यात्-है वा होगा ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि तद्भावभावित्वात्-सत्त्वकी प्रतीतिके पीछे उनकी प्रतीति होती है, इसलिये ब्रह्ममें मुख्य एवं गौणवृत्तिसे तत्-तत्पदार्थोंको कहते हैं।

वेदान्त श्रवणसे पहिले यह तो ज्ञान होता नहीं इन सबका तत्त्व ब्रह्म है इसलिये तत्तत्शब्दसे तत्तत् पदार्थकी प्रतीति होती है, अथवा मुख्यरूपसे ब्रह्म और अमुख्यरूपसे तेज आदि पदार्थकी प्रतीति होती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि वस्तु और ब्रह्म दोनों ही प्रतीत होते हैं। (तेजोऽधि-करणं समाप्तम् ।)

नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः । २-३-१८ ।

आत्मा-जीवात्मा न-उत्पन्न नहीं होता-अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे श्रुतेः-क्योंकि कं० १-२-१८में कहा गया है कि न पैदा होता है न मरता है यह भी बात नहीं है, एकवार पैदा होकर फिर पैदा न होता हो और मरता हो किन्तु कभी भी पैदा नहीं हुआ ऐसा श्वे० १-९में लिखा है कि ज्ञाज्ञौ द्वावजौ ईशानीशौ जीव और ईश्वर दोनों ही अज हैं, एक समर्थ और दूसरा असमर्थ है इससे परिस्फुट माल्रम होता है कि कभी भी जीव पैदा नहीं होता । च-और नित्यत्वात्-जीवात्माको नित्य होनेसे जीवात्माकी नित्यता तो ताभ्यः-उन श्रुतियोंसे ही विदित होती है । कठ-२-५-१३ में कहा है कि नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् वह आकाशादिकसे भी नित्य तथा चेतनोंका भी चेतन है ।

ब्रह्मसे आकाशादिक उत्पन्न होते हैं पर जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि श्रुतियां जीवको अनुत्पन्न मानती हैं ।

ज्ञोऽत एव । २-३-१९ ।

अतः-इन श्रुतियोंसे एव-ही ज्ञः-ज्ञातृस्वरूप है ।

भगवान् कपिलदेव चिन्मात्र ही आत्माका स्वरूप मानते हैं, कणाद पाषाणकी तरह जड़ किन्तु आगन्तुक चैतन्यवाला आत्माको मानते हैं । कोई ज्ञानस्वरूप मानते हैं। इसपर सूत्रकार कहते हैं कि छान्दोग्य और बृहदारण्यकसे प्रतीत होता है कि आत्माका ज्ञातृस्वरूप है । (आत्माधिकरणं समाप्तम्)

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् । २-३-२० ।

उत्क्रान्ति-स्थूलशरीरको छोड़कर एवम् किसी शरीरदेशसे निकलना, गति-लोकान्तरोंमें जाना तथा आगतीनाम्-वहांसे लौटकर फिर वापस आना यह सब श्रुतियोंसे सुना जाता है, इससे माल्रम होता है कि आत्मा अणु है ।

जीवका शरीरसे निकलना, लोकान्तरोंमें जाना, फिर वहांसे आना, श्रुतियोंसे देखा जाता है इससे प्रतीत होता है कि आत्मा अणु है ।

स्वात्मना चोत्तरयोः । २-३-२१ ।

च-यद्यपि उत्क्रान्ति कर्मक्षयसे देहके स्वाम्यकी निवृत्ति स्थितकी भी हो सकती है पर उत्तरयोः-गति और आगतिका संपादन स्वात्मना-अपनी आत्मासे ही कर सकता है इसलिये जीवात्मा अणु है ।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्न, इतराधिकारात् । २-३-२२ ।

अणुः-जीवात्मा अणु न-नहीं है,कारण कि अतच्छ्रुतेः-श्रुतिमें जीवात्माका अणु होना देखा नहीं जाता किन्तु बृ०-४-४-२२ में कहा है कि महान् अज आत्मा है । इति-ऐसा कहो चेत्-तो न-नहीं कह सकते, क्योंकि इतराधिकारात्-उस जगह ईश्वरका वर्णन है जीवका नहीं है ।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च । २-३-२३ ।

च-जीवात्माके अणु होनेमें यह और हेतु है कि स्वशब्द-मुण्डक ३-१-९-एषोऽणुरात्मा यह अणु जीवात्मा चेतसे जानने योग्य है, इस श्रुतिमें साक्षाद् अणुशब्दका उच्चारण है। दूसरे

उन्मानाभ्याम्–श्वे०–५–९ में एवं मानको सामने रखकर अणुका विधान किया है ।

मुण्डक–३–१–९ में जीवको साक्षाद् अणु कहा गया है श्वेताश्व० ५–९ वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते–वालकी नोकका सौवाँ भाग एवं उस सौवें भागका भी सौवाँ भाग यानी अत्यन्त अल्प अर्थात्–अणु जीव है,वह अविनाशी है। दूसरी श्रुतिमें भी यही लिखा है कि–अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः, संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ॥ बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः ॥ अंगुष्ठमात्र एवं रविके समान रूप तथा संकल्प और अहंकारसे युक्त तथा बुद्धिके गुण और आत्मगुणसे युक्त (इसका विशेष अर्थ " हृद्यपेक्षया तु " इस सूत्रमें कर चुके हैं) छोटे ग्रामोंमें जो बैलोंके चलानेका होता है उसमें लोहेकी आर लगी रहती है तथा फिरानेके लट्टूमें भी आर रहती है उस आरके अगाड़ीकी नोककी अणी जैसा अर्थात् जीव अणु देखा जाता है ।

अविरोधश्चन्दनवत् । २–३–२४ ।

चन्दनवत्–जीव अणु है तो भी चन्दनकी तरह अर्थात्–शरीरके एक देशमें लगा हुआ चन्दन संपूर्ण शरीरको आनन्द पहुँचाता है, एवं एक जगहकी चोट सब शरीरको सुखा देती है । इसी तरह अणु जीव शरीरके एक देशमें रहता है और तमाम शरीरको लाभ पहुँचाता अविरोधः–इसमें कोई विरोध नहीं है ।

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि ।२–३–२५ ।

अवस्थितिवैशेष्यात्–चन्दनकी तो शरीरके एक देशमें स्थिति रहती है पर अणु–जीवकी स्थिति नहीं सुनी जाती इति ऐसा कहो चेत्–तो न–नहीं कह सकते, क्योंकि अभ्युपगमात्–जीवात्माकी भी देहके देश–विशेषमें स्थिति सुनी जाती है,हि–क्योंकि श्रुति ही हृदि–हृदयमें जीवात्माको बताती है ।

जिस तरह चन्दन शरीरके एक देशमें रहकर शरीरमात्रको सुख पहुँचाता है उसी तरह अणु जीव भी हृदयमें रहकर शरीरका उपकारी हो सकता है ।

गुणाद्वाऽऽलोकवत् । २–३–२६ ।

वा–अथवा आलोकवत्–जिस तरह रोशनदान एक जगह पर रहता है किन्तु उसकी रोशनी अनेक स्थलोंको प्रकाशित करती है, अथवा जिसतरह सूर्य्य और चांद आसमानमें रहकर भी अपनी प्रभासे अनेक लोकोंको प्रकाशित करता है उसी तरह अणु आत्मा भी हृदयमें रहकर गुणात्–अपने गुण रूप ज्ञानसे संपूर्ण देहको प्रकाशित करता है ।

जिस तरह सूर्य्य चन्द्रमा अपने गुण–आलोकसे सबको प्रकाशित करते हैं उसी तरह अणुजीव भी अपने ज्ञान गुणसे सबको प्रकाशित करता है ।

व्यतिरेको गन्धवत् तथा च दर्शयति । २–३–२७ ।

गन्धवत्–गन्धकी तरह व्यतिरेकः–ज्ञातृस्वरूप जीवसे ज्ञान जुदा है, च–और तथा–ज्ञातृस्वरूप जीवसे ज्ञान जुदा है ऐसा श्रुति दर्शयति–दिखाती है ।

जिसतरह पृथिवीसे पृथिवी–गुण गन्धका जुदा होना सिद्ध है इसी तरह ज्ञातृस्वरूप जीवसे जुदा उसका ज्ञान गुण सिद्ध है

पृथगुपदेशात् । २-३-२८ ।

पृथक्-नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते बृ०-उ०-ने विज्ञातासे विज्ञानका पृथक् उपदेशात्-उपदेश अपने शब्दोंमें किया है ।

बृ० उपनिषदमें भी विज्ञातासे विज्ञानका पृथग् उपदेश किया गया है " कि विज्ञाताकी विज्ञातिका विपरिलोप नहीं होता " इसमें विज्ञातृ और विज्ञाति यानी ज्ञानी ज्ञान दोनोंका पृथक् उपदेश दीख रहा है इस कारण ज्ञाता और ज्ञान दोनों एक नहीं हैं ।

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् । २-३-२९ ।

तु-बृ०-यो विज्ञाने तिष्ठन् जो जीवोंमें रहकर विज्ञानशब्दसे निर्देश है वह तद्गुणसारत्वात्-जीवात्मामें विज्ञान गुणसार है, इस कारण तद्व्यपदेशः-विज्ञान शब्दसे जीवका व्यपदेश है, प्राज्ञवत्-जिस तरह प्राज्ञमें आनन्द सार है इस कारण उसे आनन्दशब्दसे कह देते हैं ।

जिसतरह ईश्वरमें आनन्द सार होनेके कारण ईश्वरको आनन्दशब्दसे कह देते हैं उसी तरह ज्ञातृस्वरूप जीवमें विज्ञान सार है, इसलिये उसे कहीं कहीं उपनिषदोंमें विज्ञानशब्दकरके भी कह दिया है ।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् । २-३-३० ।

च-और यावदात्मभावित्वात्-विज्ञान सब आत्माओंमें है इस कारण आत्माको विज्ञान कहनेमें दोषः-दोष न-नहीं है, तद्दर्शनात्-धर्मनिर्देशसे तमाम धर्मियोंका निर्देश देखा जाता है ।

धर्मके निर्देशसे धर्मीका निर्देश हो जाता है, जैसे गोत्व धर्मसे तमाम गायोंका निर्देश हो जाता है इसी तरह बृ०-यो विज्ञाने तिष्ठन् इन वाक्योंमें विज्ञान-धर्मसे तमाम जीवमात्रका निर्देश कर दिया गया है तमाम आत्माओंके ग्रहणके लिये ।

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् । २-३-३१ ।

पुंस्त्वादिवत्-जिस तरह बच्चेमें पुंस्त्व रहते हुए भी बालकालमें अभिव्यक्त न होकर जवानीमें अभिव्यक्त होता है उसी तरह सुषुप्तिमूर्च्छामें तु-तो अस्य-इस विज्ञानको सतः-रहनेपर भी अभिव्यक्तियोगात्-जाग्रत्में अभिव्यक्ति होती है इस कारण उनमें भी इसकी सत्ता माननी होगी ।

जैसे पुंस्त्व बालकपनेमें भी रहता है पर जवानीमें व्यक्त होता है इसी तरह सुषुप्तिमूर्च्छामें विज्ञान रहता है पर जाग्रत्में अभिव्यक्त होता है ।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा । २-३-३२ ।

अन्यथा-जीवात्माको ज्ञातृस्वरूप न मानकर ज्ञानमात्र मानोगे एवं सर्वगत मानोगे तो नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंगः-सदा ही एक साथ उपलब्धि और अनुपलब्धि दोनों होनी चाहिये । वा-अथवा अन्यतरनियमः-उपलब्धि रहे या अनुपलब्धि ही रहनी चाहिये ।

ज्ञानरूप आत्माको विभु मानोगे तो उसकी सदा ही प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों एक साथ होनी चाहिये । या प्राप्ति वा अप्राप्ति ही सदा रहनी चाहिये, क्योंकि वह सब जगह है । इस कारण जीव आत्माको विज्ञानमात्र नहीं मानते । (ज्ञाधिकरणं समाप्तम्) ।

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् । २-३-३३ ।

कर्ता—यह जीव कर्ता है शास्त्रार्थवत्त्वात्—स्वर्गादिकके लिये एवं मोक्षादिके लिये प्रेरणा करनेवाले शास्त्रके अर्थवाला होनेके कारण ।

शास्त्र कहते हैं कि स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे, मुमुक्षु ब्रह्मकी उपासना करे इत्यादिक अर्थोंको कहनेवाली श्रुति स्वर्ग और मोक्षका भोक्ता करती हो तब ही उपयुक्त होती है अन्यथा नहीं, इस लिये जीव कर्ता है दूसरा नहीं है ।

उपादानाद् विहारोपदेशाच्च । २-३-३४ ।

च—यह भी निम्नलिखित हेतु जीवको कर्ता साबित करनेवाले हैं । उपादानात्—ग्रहण करनेसे, एवम् विहारोपदेशात्—विहारका जो श्रुतियोंने उपदेश दिया है उससे ।

यह जीव इन्द्रियोंको लेकर स्वप्नस्थानादिमें विहार करता है पीछे उन्हें लेकर शरीरमें आ जाता है ऐसा श्रुति कहती हैं बृ०—"एवैष एतत् प्राणान् गृहीत्वास्वे०" २-१ एवं ४-३ "स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्" जब वह उपादान एवं विहारका करनेवाला है तो और कामोंका भी करनेवाला होगा इसमें सन्देह ही क्या है ।

बृ० में १-१-१८ में लिखा है कि यह जीव प्राणोंको लेकर इच्छानुसार विचरता है, वह अमृत जीव इच्छानुसार जाता है यह श्रुतियोंमें जीवका इंद्रियोंका ले जाना और विहार करना परिस्फुट प्रतीत है ।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्य्ययः । २-३-३५ ।

च—यह भी कारण जीवको कर्ता होनेका है, क्रियायाम्—क्रियामात्रमें व्यपदेशात्—जीवको ही कर्ता करके व्यपदेश किया गया है, न—विज्ञानशब्दसे बुद्धिआदिका ग्रहण करके उनको कर्ता तो नहीं मान सकते चेत्—ऐसा मानोगे तो निर्देशविपर्य्ययः—प्रथमा विभक्तिकी जगह तृतीयासे निर्देश करना पड़ेगा ।

तै०२-५-१ में यह कहा गया है कि—विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च—विज्ञान यज्ञका विस्तार करता है,वही कर्मोंको करता है । यहां विज्ञानशब्दसे जीवका निर्देश है, यदि अन्तः-करण बुद्ध्यादिका निर्देश होता तो करणमें तृतीया होकर 'विज्ञानेन' ऐसा पाठ होता फिर भी कर्ता जीव ही रहता, ये प्रधानरूपसे करण आकृतिमें आ जाते ।

उपलब्धिवदनियमः । २-३-३६ ।

आत्माको कता न माननेसे तथा विभु माननेसे उपलब्धिवत्—पिछले २-३-३२ के सूत्रमें दिखायी हुई उपलब्धिकी तरह अनियमः—नियम न रहेगा ।

जीव आत्माको विभु और अकर्ता तथा प्रकृतिको कर्ता मानोगे तो प्रकृति सबके लिये एकसी होनेके कारण सब कर्म सबके भोगके लिये होने चाहिये न कि वह किसी एक आत्माके लिये हो जायँ । सन्निधान भी सबको एकसा है इस कारण अन्तःकरण आदिकोंका भी नियम नहीं हो सकता कि जिसके अधीन व्यवस्था की जाय ।

शक्तिविपर्य्ययात् । २--३--३७ ।

शक्तिविपर्ययात्--शक्तिका उलट पलट हो जायगा ।

बुद्धिको कर्ता कहोगे तो दुनियांमें देखा जाता है कि जो कर्ता है वही भोक्ता होता है, इससे भोक्तापना भी बुद्धिको होगा और जीवात्माका भोक्तापना मारा जायगा । पर सांख्यवाले बुद्धिको कर्ता मानकर भी भोक्ता पुरुषको मानते हैं ।

समाध्यभावाच्च । २--३--३८ ।

च--यह भी एक हेतु पुरुषके कर्ता होनेमें है कि समाध्यभावात्--बुद्धिको कर्ता मानोगे तो समाधिका अभाव होगा ।

प्रकृतिसे मैं अन्य हूँ यह निश्चय समाधिअवस्थामें होता है, यह जीव ही निश्चय कर सकता है प्रकृति ऐसा निश्चय समाधान नहीं कर सकती कि मैं प्रकृतिसे अन्य हूँ इसलिये प्रकृति कर्त्री नहीं, पुरुष कर्ता है ।

यथा च तक्षोभयथा । २--३--३९ ।

यथा--जैसे तक्षा-बढ़ई छीलने आदिके साधन बसूला आदि रहते हुए भी मन आता है तो करता है, मन नहीं आता है नहीं करता च--वैसे ही उभयथा--जीव इंद्रियोंके रहते हुए भी इच्छा होती है तो करता है, नहीं होती है तो नहीं करता ।

जो जीवको कर्ता मानते हो तो वह अपनी रुचिके अनुसार करे या न करे, पर जड़ बुद्धिको कर्ता माननेपर सर्वदा ही कर्तृत्व होना चाहिये, क्योंकि यह तो है ही नहीं कि इच्छा हो करे,इच्छा हो न करे जड़के इच्छा तो होती ही नहीं । इस कारण जीव कर्ता है (कर्त्रधिकरणं समाप्तम्)

परात्तु तच्छ्रुतेः । २--३--४० ।

तु--जीवका कर्तृत्व तो परात्--परमात्मासे होता है, क्योंकि तच्छ्रुतेः--जीवके कर्तृत्वमें हेतु परमात्मा है, ऐसा श्रुति कहती है--"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्"जीवोंका शासन करनेवाला अन्तः प्रविष्ट है । बृ०--३--७ में कहा है कि जो जीवमें रहकर जीवका नियमन करता है ।

ईश्वरकी प्रेरणानुसार ही जीव कर्ता है ऐसा श्रुति कहती है, जीवका कर्तृत्व ईश्वरायत्त है अर्थात् ईश्वरके अधीन है ।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः । २--३--४१ ।

तु--विधि--निषेध-शास्त्र तो अनर्थक नहीं, क्योंकि जीवके प्रति ईश्वरका अनुशासन तो कृतप्रयत्नापेक्षः--धर्माधर्मरूप जो जीवने प्रयत्न कर रखा है उसीके अनुसार परमात्मा उन्हें प्रेरणा करता है ऐसा है, तब ही विहित--शास्त्रमें विधान किये हुए कर्म एवम् प्रतिषिद्ध--शास्त्रसे निषेध किये हुए कर्म अवैयर्थ्यादिभ्यः--व्यर्थ नहीं होते तथा तब ही निग्रहानुग्रह सिद्ध होते हैं ।

जीवके कर्मोंके अनुसार ईश्वरकी प्रेरणा होती है किन्तु जो भक्तजन हैं--जिनपर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हैं उनसे अच्छे कर्म ही कराते हैं एवं जो अभक्त हैं उनका मन भगवान्की प्रेरणासे पापमें अधिक लगता है । (परायत्ताधिकरणं समाप्तम्)

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके । २-३-४२ ।

नानाव्यपदेशात्—ईश्वरको सर्वज्ञत्व, जीवको अल्पज्ञत्व, जीवको नियम्यत्व, ईश्वरको नियन्तृत्व आदिसे जो जीव और ईश्वरको जुदा जुदा निर्देश किया गया है इस कारण एवम् अन्यथा—ईश्वर और जीवको जो एक प्रतिपादन किया गया है इस कारण—जीव ईश्वरका अंशः—अंश मालूम होता है, अपि च—और भी अंश होनेका हेतु यह है कि एके—एक शाखावाले यानी आथर्वणिक दाशकितवादित्वम्—हम ब्रह्मके दास हैं हम ब्रह्मके कितव हैं (कितवका भी अर्थ दास होता है) ऐसा अधीयते—पढ़ते हैं ।

कुछ एक श्रुति तो जीव और ब्रह्मका भेद प्रतिपादन करनेवाली है और कुछ एक तत्त्वमस्यादि श्रुति अभेद प्रतिपादन करनेवाली हैं, इन दोनों प्रकारकी श्रुतियोंकी उपपत्तिके लिये जीवको अंश मानना ही ठीक है, क्योंकि अंश माननेसे दोनों ही निर्देश संगत हो जाते हैं । दूसरे अथर्वकी एक शाखावाले तो जीवको ब्रह्मका दासतक कहते हैं ऐसी हालतमें अंश मानना ही सर्वश्रेष्ठ है ।

मन्त्रवर्णात् । २-३-४३ ।

य०-३१-अ०में पादोऽस्य विश्वा भूतानि—इसमें अंशका पर्य्याय पादशब्द रखा हुआ है जिससे इसका यह अर्थ होता है कि सब जीव इसके अंश हैं ।

अपि च स्मर्यते । २-३-४४ ।

अपि—मंत्रमें ही नहीं किन्तु च—और स्मर्यते—स्मृति भी जीवको ईश्वरका अंश कहती है । यह बात नहीं है कि मन्त्रोंने ही जीवको ईश्वरका अंश बताया हो किन्तु गीतामें भी कहा है कि—" ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः "—जीवलोकमें मेरा ही अंश है वह सनातन है ।

प्रकाशादिवत्तु नैवं परः । २-३-४५ ।

तु—जीव ब्रह्मका अंश है इसलिये जीवगत दोष ब्रह्ममें आजाने चाहिये? ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि वह जीव प्रकाशादिवत्—प्रकाशादिककी तरह अंश है; जैसे प्रकाशवान्का प्रकाश अंश है जैसे गोका गोत्व अंश है उसी तरह ईश्वरका जीव अंशी है । एवम्—जैसा जीव है वैसा परः—ईश्वर न—नहीं है जिस तरह प्रकाशवान्का प्रकाश एवं गोका गोत्व है इसी तरह जीव परमात्माका अंश है । प्रकाशविशिष्ट प्रकाशवान् होता है, गोत्वविशिष्ट गो होता है उसी तरह जीवविशिष्ट ईश्वर होता है । जिस तरह प्रकाशवान्का प्रकाश विशेषण है गोत्वयुक्त गोका गोत्व विशेषण अंश है उसी तरह ईश्वरका जीव विशेषणांश है और अंशी ईश्वर है ।

अंश और अंशीकी भेद विवक्षासे पृथगुपदेश एवं अभेदविवक्षासे एकत्व—व्यपदशेकी उपपत्ति होती है । अंशी ईश्वरमें विशेष्यकृत एवं अंश जीवमें विशेषणकृत स्वभाववैलक्षण्य अवश्य है । इस प्रक्रियाका नाम विशिष्टाद्वैत है ।

स्मरन्ति च । २-३-४६ ।

च-और पराशर आदिक अंश-अंशि-भावको स्मरन्ति-स्मरण करते हैं ।

प्रभा-प्रभावान्के रूपमें अथवा शक्ति-शक्तिमान्के रूपमें, शरीर और आत्माके रूपमें जगत् और ब्रह्मका अंश-अंशीभाव पराशर आदि मानते हैं ।

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् । २-३-४७ ।

ज्योतिरादिवत्-आग आग सब एक होनेपर भी अग्निहोत्रीके घरकी अग्नि काममें आती है दूसरी पवित्र कर्मोंमें नहीं वर्ती जाती, इसी तरह देहसम्बन्धात्-देहके सम्बन्धसे जीवोंको अनुज्ञापरिहारौ-किसीको किसी कर्मकी आज्ञा और किसीके लिये निषेध किया गया है ।

हैं सब जीव ईश्वरके अंश, पर किसीको वेदाध्ययनकी आज्ञा और किसीको निषेध; शरीरकी पवित्रता और अपवित्रताको लेकर किया गया है ।

असन्ततेश्चाव्यतिकरः । २-३-४८ ।

च-और ब्रह्मांशत्व सब जीवोंमें समानधर्म हैं, पर असन्ततेः-आपसमें जुदे २ और अणु हैं । इस कारण अव्यतिकरः-भोगव्यतिकर भी प्राप्त नहीं होता है ।

सब जीव प्रतिशरीर भिन्न हैं और अणु हैं इसीसे जिसका जो भोग होता है वही भोगता है दूसरा नहीं भोगता । जो जीवको इस प्रकार अंश नहीं मानते उनके मतमें ये दोष प्राप्त होते हैं ।

आभास एव च । २-३-४९ ।

च-और अखण्ड एकरस प्रकाशस्वरूप जीवको कहकर स्वरूपके तिरोधान करनेवाली उपाधिके प्रतिपादन करनेवाले हेतु आभास-हेत्वाभास एव-ही-हैं ।

जो अखण्ड एकरस प्रकाशस्वरूप जीवको कहकर स्वरूपको तिरोधान करनेवाली उपाधिसे संसार दशा मानते थे एवम् इस विषयमें हेतु भी देते थे उनके हेतु हेतु नहीं प्रत्युत हेत्वाभास हैं ।

अदृष्टानियमात् । २-३-५० ।

अदृष्ट-उपाधिका हेतु है यह भी अनियमात्-नियम नहीं हो सकता क्यों कि अदृष्ट भी ब्रह्म-स्वरूपाश्रय है ।

उपाधिका हेतुभूत अदृष्ट भी नहीं मान सकते क्योंकि अदृष्ट भी तो सबकी तरह ब्रह्माश्रित है ।

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् । २-३-५१ ।

च-और अभिसन्ध्यादिषु-यह काम करूँगा जिससे इस फलको पाऊँगा इस प्रयत्नसे यह करूँगा इनमें अपि-भी एवम्-पहिलेकी तरह नियमका हेतु अदृष्ट नहीं हो सकता ।

अदृष्टके हेतुभूत संकल्प आदिमें भी पूर्वोक्त हेतुसे नियम नहीं है ।

प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात् । २-३-५२ ।

प्रदेशभेदात्-उपाधिसंबंधि ब्रह्म प्रदेशके भेदसे भोग व्यवस्था हो जायगी इति चेत्-ऐसा कहो तो न-नहीं कह सकते क्योंकि अन्तर्भावात्-सब वे प्रदेश उपाधिके भीतर आ जायँगे ।

यदि यह कहो कि एक ही ब्रह्मका स्वरूप है पर अनेक तरहकी उपाधियोंसे सम्बन्धित है जो ब्रह्मदेश उपाधियोंसे संयुक्त है उसके भेदसे भोगकी व्यवस्था हो जायगी ऐसा कहो तो नहीं कह सकते, क्योंकि उपाधि उन उन प्रदेशोंमें पहुँच जायगी तब सब प्रदेश उपाधियोंके अन्तर्गत हो जायँगे और वह अनवस्था बनी ही रह जायगी, इसलिये जीवको ब्रह्मका अंश मानना ही उचित है। (अंशाधिकरणं समाप्तम्)

इति पं० माधवाचार्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां द्वितीयाध्यायस्य । तृतीयः पादः समाप्तः ।

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

तथा प्राणाः । २–४–१ ।

तथा–आकाशकी तरह प्राणाः–प्राण भी उत्पन्न होते हैं ।

जिस तरह आकाश आत्मासे उत्पन्न हुए हैं इसी तरह प्राण भी ईश्वरसे ही उत्पन्न होते हैं मु० उ० २–१–३ में एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी । इस ईश्वरसे ही प्राण, मन, इंद्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी आदि हुए ।

गौण्यसंभवात्तत्प्राक्श्रुतेश्च । २–४–२ ।

असद्वा इदमग्र आसीत् तदाहुः किं तदसदासीदित्यृषयो वाव तेऽग्रे सदासीत् । जो यह कहते हैं कि यह संसार पहिले असत् था वह असत् और कुछ नहीं असद्शब्दसे ऋषि कहे गये हैं और प्राणोंको वहां ऋषि कहते हैं–अतएव प्राण थे यहां प्राणशब्दनिर्दिष्ट ईश्वरकी सत्ता मानी जाती है यदि उस व्यावहारिक प्राण मान प्राणोत्पत्तिवादी श्रुतियोंको गौण कहो तो नहीं कह सकते, कारण–वेदान्तब्रह्मसूत्रके लेखक एवं छा० आदिमें यह कहा है कि एकके जाने सब जाना जाता है यह कहना असम्भव होगा इसलिये प्राणोत्पत्तिकी श्रुति गौणी नहीं हो सकती । अतएव जहां कहीं प्राणकी उत्पत्ति नहीं सुनी जाती है वहां प्राणको ब्रह्म समझना चाहिये। पर श्रुतिके असत्का अर्थ ऋषि करके ऋषिका अर्थ प्राण किया है वहां प्राणा वाव ऋषयः यह बहुवचन दिया है परमात्मा तो एक है प्राणका ईश्वर अर्थ करते हुए भी बहुवचन कैसे सम्पन्न होगा, तब कहते हैं कि गौणी–बहुवचन श्रुति गौणी है क्योंकि असंभवात्–बहुवचनका अर्थ असंभव है ब्रह्म तो एक है बहुत नहीं हैं । च–और गौणी माननेमें कारण है कि तत्– वह एक परमेश्वर ही प्राक्–सृष्टिसे पहिले था यह श्रुतेः–रमेश्वरका रहना सुना जाता है ।

जहां प्राणका ईश्वर अर्थ है वहां बहुवचनका निर्देश गौण है, क्योंकि श्रुति एक ईश्वरको ही मानती है सृष्टिसे पहिले बहुतसे ईश्वर नहीं मानती ।

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः । २–४–३ ।

वाचः–नामधेयको तत्पूर्वकत्वात्–आकाशादि सृष्टिपूर्वक होनेसे ।

सबसे पहिले अव्याकृत था बादमें आकाशादिसे नामरूपका विषय शुरू होता है, सृष्टिसे पहिले नामरूपवाले पदार्थोंके न होनेसे पूर्वोक्तस्थलोंमें प्राणका ईश्वर अर्थ है । (प्राणोत्पत्त्यधिकरणं समाप्तम्)

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च । २–४–४ ।

सप्त–इंद्रिय सात हैं गतेः–जन्म लेते वा मरते हुए जीवके साथ सातोंका संचरण सुना जाता है च–और योगदशामें विशेषितत्वात्–क०उ० यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह बुद्धिश्च न विचेष्टेत यहां ज्ञानानि यह पद इन्द्रियोंका विशेषण है इससे पांच ज्ञानेन्द्रिय–श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण रुक जाय और मनके साथ बुद्धि भी रुक जाय इससे कुल सात ही इंद्रिय प्रतीत होती हैं।

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् । २–४–५ ।

स्थिते–शरीरके स्थिति होनेपर कर्मेन्द्रियोंकी क्रियाएँ देखी जाती हैं इसलिये हस्तादयः–हस्त, पाद आदिक तो हैं अतः–इस कारण एवम्–हस्तपादादि इन्द्रियां नहीं हैं ऐसा न–नहीं है।

पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय, एक मन ये ग्यारह इंद्रियां हैं । मन, अध्यवसाय, अभिमान और चिन्तारूप वृत्तिके भेदसे–बुद्धि अहंकार और चित्तशब्दसे कहा जाता है । और ये सब जीवके साथ रहती हैं । (सप्तगत्यधिकरणं समाप्तम्)

अणवश्च । २–४–६ ।

च–और उत्क्रांतिके समय समीपस्थ पुरुषके किसी तरह भी देखनेमें नहीं आते इसलिये अणवः–अणु हैं।

जिस समय जीवके साथ इंद्रियगण शरीरको छोड़कर चलते हैं उस समय उन्हें कोई भी किसी तरह नहीं देख सकता इस कारण प्राण अणु हैं।

श्रेष्ठश्च । २–४–७ ।

च–और मुख्य प्राण जो लोकमें भी प्राणशब्दसे कहा जाता है वह श्रेष्ठः–सबसे श्रेष्ठ है।

उपनिषदोंमें इंद्रियों और प्राण, जीव और परमात्मा प्राणशब्दसे कहे गये हैं । प्रकरणके अनुसार कहां किसका ग्रहण है इसका निश्चय किया गया है । प्राणशब्दवाच्य इंद्रिय और प्राणवायुमें प्राणवायु श्रेष्ठ है । (प्राणाणुत्वाधिकरणं समाप्तम्)

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् । २–४–८ ।

पृथगुपदेशात्–एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी मु० २–३ इस अक्षर ब्रह्मसे प्राण मन एवम् सब इंद्रियें आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी हुए इस श्रुतिमें प्राण और वायुका जुदा जुदा निर्देश किया गया है इससे माल्रम होता है कि प्राण वायुक्रिये–वायु अथवा वायुकी क्रिया न–नहीं है।

एक दर्शनवाले प्राणको वायु तथा उसीकी क्रिया कहते थे, इसमें व्यासदेवजीने कहा है कि प्राण वायु अथवा उसकी क्रिया नहीं है क्योंकि श्रुतिमें उसका जुदा उपदेश दिया गया है।

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टयादिभ्यः । २–४–९ ।

तु–प्राण तो चक्षुरादिवत्–चक्षुआदिकी तरह जीवका ही एक उपकरण है तत्–उस उपकरणपनेका निश्चय सहशिष्टयादिभ्यः–तृतीय प्रश्न एवं छान्दोग्य अयं मुख्यः प्राणः ५ के प्रथम खण्डमें प्राण और इंद्रियोंका संवाद सुना जाता है और प्राणके शासनमें सब रहते हैं यह भी सुना जाता है । आदिशब्दसे प्राणको वरिष्ठ श्रेष्ठ एवं मुख्यशब्दसे व्यवहार भी प्राणको मुख्यता द्योतन करता हुआ प्राणको इंद्रियोंकी तरह जीवोपकरण सूचित करता है।

प्राण इंद्रियोंकी तरह जीवका उपकरण है तब ही प्राणके साथ इन्द्रियोंका संवाद एवम् प्राणको श्रेष्ठता प्रतिपादन की है ।

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति । २-४-१० ।

और अकरणत्वात्–जिस तरह अन्य इंद्रियों विषय परिच्छेदक हैं उस तरह प्राणके विषयपरिच्छे-दन न होनेसे च–भी दोषः–दोष न–नहीं है । तथाहि–तैसा ही श्रुति दर्शयति–दिखाती है ।

जीवके जो काम इन्द्रियगण करता है उन कामोंको प्राण नहीं करता, पर तो भी जीवका प्राण उपकारी है। कारण कि वजहसे शरीरमें तमाम इंद्रियां रहती हैं। प्राणके छोड़ देने पर शरीर अस्पृश्य हो जाता है । यह छा० और बृहदारण्य एवं प्रश्नोपनिषद् आदिमें लिखा है कि यस्मिन् उत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरामिव दृश्यते । जिसके चले जानेपर शरीर परम पापीकी तरह हो जाता है ।

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते । २-४-११ ।

मनोवत्–मनकी तरह याने जिस तरह मन अध्यवसान, अभिमान और चिन्तारूपवृत्तिके भेदसे मनके बुद्धि अहंकार और चित्त ये तीन भेद हो जाते हैं, उसीतरह प्राण भी वृत्ति भेदसे प्राण, अपान, समान, उदान और व्यानभेदसे पांच तरहका व्यपदिश्यते–कहा जाता है ।

मनकी तीन वृत्तियोंकी तरह प्राण भी वृत्तिभेदसे पांच प्रकारका होजाता है । (वायुक्रियाधिकरणं समाप्तम्)

अणुश्च । २-४-१२ ।

च–और यह प्राण भी इंद्रियोंकी तरह अणुः–अणु है ।

इंद्रियोंकी तरह प्राण भी शरीर छोड़कर जाता है पर कोई भी किसी तरह आँखोंसे नहीं देख सकता इस लिये प्राण भी अणु है यह प्राण अणु और श्रेष्ठ दोनों ही है । (श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणं समाप्तम्) ।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्प्राणवता शब्दात् । २-४-१३ ।

प्राणवता–जीवके साथ ज्योतिराद्यधिष्ठानम्–ज्योतिः–अग्नि आदिके अधिष्ठान इंद्रिय तु–तो तदा-मननात्–उस परमात्माके ही संकल्पसे होते हैं क्योंकि शब्दात्–श्रुति ही ऐसा कहती हैं ।

जीवात्माके साथ इंद्रियोंके अभिमानी देवता ईश्वरके ही संकल्पसे इन्द्रियोंको अपना अधिष्ठान बनाते हैं बृ० उ० में कहा है कि जो अग्नि, वायु आदिमें ठहरा हुआ है जिसे ये नहीं जानते अग्नि वाणी हो मुखमें प्रविष्ट हुआ । यह अधिष्ठातृभाव रूपसे ही प्रवेश है और कुछ नहीं है ।

तस्य च नित्यत्वात् । २-४-१४ ।

तस्य–परमात्मा द्वारा जो अधिष्ठितपना है उसके नित्यत्वात्–नित्य होनेसे च–परमात्मा अपने संकल्पमात्रसे सबका अधिष्ठाता है और अभिमानी देवता भी परमात्माके संकल्पसे अधिष्ठात्री है यह सिद्ध होता है (ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणं समाप्तम्)

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् । २-४-१५ ।

श्रेष्ठात्–श्रेष्ठप्राण जिसके प्राण अपान आदि वृत्ति भेद हैं उससे अन्यत्र दूसरे प्राणोंमें तद्व्यपदे-शात्–इन्द्रियका व्यपदेश करनेके कारण ते–वे प्राण इन्द्रियाणि–इंद्रियशब्दसे कहे जाते हैं ।

यह प्राण इंद्रियोंको भी विषयोंमें लगाया करता है, इस प्राणके अपान उदान आदि वृत्तिभेद हैं उसे छोड़कर बाकी उपनिषद्के प्राणशब्दवाच्य इंद्रिय गण हैं। जहां दूसरा अर्थ है वहां उसका निश्चय किया गया है। जीवके मरणसमयमें हृदयमें एकत्रित होनेवाले प्राणशब्दवाच्य इंद्रिय ही हैं।

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च । २-४-१६ ।

भेदश्रुतेः-इंद्रियोंसे प्राण पृथक् सुना जाता है इस कारण च-और वैलक्षण्यात्-और इंद्रियोंसे विलक्षण होनेके कारण प्राण इंद्रियोंसे पृथक् है।

मुण्डक२-३में इंद्रिय और प्राणकी पृथक् उत्पत्ति देखी जाती है, दूसरे जिस समय तमाम इंद्रियां अपना व्यापार छोड़ देती हैं उस समय भी सुषुप्ति आदिमें प्राण अपना व्यापार करता रहता है इस लिये प्राण और इन्द्रिय एक नहीं जुदे हैं। (इंद्रियाधिकरणं समाप्तम्)

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् । २-४-१७ ।

संज्ञा-नाम मूर्ति-रूप क्लृप्तिः-व्याकरण तु-तो त्रिवृत्-पंचभूतोंके उपलक्षक तेज जल पृथिवीको मिलाने यानी पंचीकरण कुर्वतः-करनेवालेके ही हैं न तो जीवके हैं और न हिरण्यगर्भके हैं उपदेशात्-छा०-उ०-६-३में यही उपदेश दिया है।

भूतोंके पंचीकरण करनेवाला परमात्मा ही नामरूपका व्याकरण करनेवाला है दूसरा नहीं है। छा०-६-३में यही उपदेश श्रुतियोंने दिया है।

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च । २-४-१८ ।

मांसादिभौमम्-अन्नशब्दसे छा०-६-५में निर्देश की हुई भूमिके भोजनके बाद-स्थूलभाग पुरीष एवम्-मध्यम मांस तथा अणु भाग मन है। च-और यथाशब्दम्-श्रुतिके अनुसार इतरयोः-तेज और जलके भाग भी होते हैं।

याने भुक्ततेजका स्थूलभाग अस्थि,मध्यम मज्जा एवं सूक्ष्मवाक् होता है। पानीका स्थूल अंश मूत्र मध्यम रक्त तथा अणु प्राण होता है।

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः । २-४-१९ ।

तद्वादः-मांसादि भौम है यह कहना तु-तो वैशेष्यात्-भूमितत्त्वके अधिक होनेके कारण कहा जाता है तद्वादः-यह पुनरुक्ति अध्याय समाप्तिके लिये है।

पहिले सूत्रमें जो यह कहा है कि मन आदि अन्न आदिसे बने हुए हैं वह उन २ भूतोंको उन २में अधिक होनेके कारण कहा गया है यह बात नहीं है कि वह बिलकुल अकेले २ तत्त्वकी ही बात हो। (संज्ञामूर्तिक्लृप्त्यधिकरणं समाप्तम्)

इति पं. माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः। द्वितीयाध्यायश्च समाप्तः।

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणभ्याम् । ३-१-१ ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ-पूर्व देहको छोड़ उत्तरदेहकी प्राप्तिके निमित्त सम्परिष्वक्तः-भूतसूक्ष्मोंसे चारों ओर वेष्टित होकर रंहति-गमन करता है यह प्रश्ननिरूपणाभ्याम्-प्रश्नोत्तरोंसे।

याने जैवलिप्रवाहणने श्वेतकेतुसे जैसे पांच प्रश्न किये हैं उसके न आनेपर फिर बाप बेटोंके पूछनेपर जैसा उत्तर दिया है उससे मालूम होता है; जीव पूर्व देहको छोड़कर जब दूसरे देहके लिये जाता है, तो उस दूसरे देहके आरंभक भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित याने सब ओरसे लपेटा हुआ ही जाता है । यह छान्दोग्य और बृहदारण्यकके श्वेतकेतु और प्रवाहणके संवादसे परिस्फुट है तथा और और उपनिषदोंमें भी यही मिलता है ।

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् । ३-१-२ ।

त्र्यात्मकत्वात्-सब पिण्डमात्र जल तेज और पृथिवीसे बना हुआ है तु-केवल जलको पुरुषशब्द वाची होनेका कथन तो, भूयस्त्वात्-देहमें जलके अंश लोहू आदिको बहुतायतसे होनेके कारण किया गया है ।

जैवलिके पांचवें प्रश्नमें जो अप्शब्द आया है वह और भूतोंका भी उपलक्षक है, शरीरमें लोहू आदि अधिक होनेके कारण उस अप्शब्दका श्रवण है । वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति-जानते हो जैसे पांच भी आहुतिमें "आपः" पुरुषशब्दसे कहे जाते हैं । आप पानीको कहते हैं पर केवल पानी नहीं रह सकता क्योंकि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्-तेज जल और पृथिवीको त्रिवृत त्रिवृत कर दिया याने आपसमें मिला दिया; इस कारण वहां भी तेज जल पृथिवी आदि सब समझना, पांचवी आहुति (वीर्य्यमें) पानी अ[illegible]क है इस लिये उसे आप (पानी) शब्दसे कहा है ।

प्राणगतेश्च । ३-१-३ ।

च-और प्राणगतेः-जीवके साथ प्राणोंका गमन होता है, इससे भी मालूम होता है कि जीव द्वितीय देहके आरंभक स्थूलभूतोंसे परिवेष्टित होकर ही देहान्तरग्रहणके लिये जाता है ।

इसी प्रकरणमें प्राणोंका भी जीवके साथ जाना लिखा है तब प्राणोंके आश्रयभूत भूतसूक्ष्म भी अवश्य ही जायगा । बृ०-४-४-२ तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति अध्यक्ष जीव जब शरीर छोड़कर चलता है तो मुख्य प्राण भी उसके साथ चलता है उस मुख्य प्राणके साथ और इन्द्रियगण भी शरीर छोड़कर चल देते हैं । यह प्राणोंका जाना लिखा हुआ है इससे मालूम होता है कि जीव भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित होकर जाता है ।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् । ३-१-४ ।

अग्न्यादिगतिश्रुतेः-अग्नि आदिमें प्राणोंका लय श्रुति कहती है तब फिर इति-प्राण साथ ही जीवके जाते हैं यह कैसे कहा ऐसे कहो चेत्-तो न-नहीं कह सकते, क्योंकि भाक्तत्वात्-वह श्रुति गौण है अस्य पुरुषस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मा ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशः अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते बृ०३-२-१३का यह कथन तो कि इस मृत पुरुषकी वाणी अग्निमें लय हो जाती है प्राण वायुमें तथा चक्षु आदित्यमें लय हो जाते हैं, मन चन्द्रमें, कान दिशाओंमें, शरीर पृथिवीमें, अत्मा अकाशमें, ओषधियोंमें लोम तथा वनस्पतियोंमें केश लय हो जाते हैं । वाणी आदिके अधिष्ठातृ देवता अग्निका अपक्रमण हो जाता है इस बातको दिखानेके लिये है इस कारणलय श्रुति गौण है ।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः। ३-१-५।

प्रथमे—पहिली आहुतिमें, अश्रवणात्—अपका श्रवण नहीं है तब पांचवीमें कहांसे आया इति—ऐसा कहो चेत्—तो न—नहीं कह सकते हि—निश्चयपूर्वक, ताः—वे आप एव—ही श्रद्धाशब्दकरके श्रुतिमें कहे गये हैं उपपत्तेः—प्रश्न और प्रतिवचनकी संगति तब ही होती है।

बृ०६—२—९ में तथा छा०५—४—२में श्रद्धा—शब्द है वह होम्य आपका कहनेवाला है क्योंकि श्रद्धापूर्वक आहुति दी जाती है। **तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति**—जिस स्वर्ग लोकरूपी अग्निका समिध या प्रकाशक सूर्य्य तथा सूर्य्यकी किरण ही धूप तथा सूर्य्यका प्रकाश रूप दिन ही आर्चि याने आग्निकी लट एवं सूर्य्यके अस्तके होनेके बाद या दिनके छिपनेके पीछे उदय होनेवाला चन्द्रमा ही अंगार और चांदके टुकड़ोंकी तरह दीखनेवाले तारे ही जिसकी चिनगारियां हैं। इस द्युलोकमें इन्द्रियगण श्रद्धाको हवन करते हैं जिसका सोम राजा बनता है।

यहां पहिली आहुतिमें जलका श्रवण नहीं श्रद्धाका श्रवण है यह शंका नहीं कर सकते, क्योंकि यह श्रद्धाशब्द पूर्वोक्त जलका उपलक्षक है यह इस सूत्रका तात्पर्य्य है, अब इस पहिली आहुतिका तात्पर्य्य कहते हैं:—जब जीव शरीर छोड़कर स्वर्ग जाने लगता है तो उसके साथ प्राण, इन्द्रिय और इन्द्रियोंके पीछे भूतसूक्ष्म जाने लगते हैं ये भूतसूक्ष्म ही श्रद्धाशब्दसे कहे गये हैं, इन्द्रियोंके विन भूतसूक्ष्म स्वर्ग नहीं जा सकता इस लिये इन्द्रियोंको भूतसूक्ष्मका हवन करनेवाला कह दिया है। स्वर्ग या चन्द्रलोकमें पहुँचते ही वह जीव स्वर्गके भोग लायक दिव्य देहवाला होता है उसको सोम कहते हैं वे साथ आये भूतसूक्ष्म ही सोमके रूपमें परिणत हो जाते हैं स्वर्गीयकर्म विशेषसे। यह इस आहुतिका तात्पर्य्य है।

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः। ३-१-६।

अश्रुतत्वात्—श्रद्धादिके वाक्योंमें जीवका तो कहीं भी श्रवण नहीं है, इति—भूतसूक्ष्मोंसे परिवेष्टित कौन जायगा यह कहो चेत्—तो न—मत कहना, कारण कि इष्टादिकारिणाम्—उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गके विषयमें श्रद्धा तप एवं इष्ट और आपूर्त करनेवालोंकी स्पष्ट प्रतीतेः—प्रतीति होती है।

इस प्रकरणमें जीवका श्रवण, बृ०६—२—१६ और छा०५—१०—१में परिस्फुटरूपसे होता है। बृ०उ०**अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिभवन्ति** जो जीव यज्ञदान और तपके प्रभावसे ऊँचे लोकोंमें जाते हैं वे धूमाभिमानिनी देवताको प्राप्त होते हैं यहां 'ये'और 'ते' शब्द से जीवका श्रवण प्रत्यक्ष हो रहा है। छा०**अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिभवन्ति** जो पुरुष ग्राममें स्थिर रहकर यज्ञ करते तथा दान और कूआ बावड़ी आदि बनाते हैं वे अपने कर्मके प्रभावसे ऊँचे लोकोंमें जातीबार धूममें रहनेवाली देवताके पास संगत होते हैं। यहां "य इमे" "ते" शब्दसे जीवका ही निर्देश या कथन किया गया है।

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति। ३-१-७।

अनात्मवित्त्वात्—पितृलोकजानेवाले आत्मवेत्ता तो है ही नहीं केवल वे देवोंके उपकरण हैं इसी लिये वा—तो उन्हें अन्नकरके व्यपदेश किया गया है वह भाक्तम्—आरोपित है तथा—वैसा हि—ही दर्शयति—श्रुतियोंने उसे दिखाया है।

बृ०-६-२-१६ तथा छा०५-१०-४में जो जीवको अन्न कहा है वह गौण है और वह भी उसे आत्मवेत्ता न होनेके कारण देवोपभोग्य होनेसे कहा गया है । बृ० **पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्य अन्नं भवन्ति** पितृलोकसे चन्द्रलोकमें पहुँचते हैं और वहां जाकर अन्न होजाते हैं तथा छा० **एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तद्देवा भक्षयन्ति** जो देह स्वर्गमें मिला है वही सोमराजा है, वह देवताओंका अन्न है उसे देवता भक्षण करते हैं । यहां भी इन्हें अन्न कहा है,अन्न तो खानेकी चीज होती है क्या स्वर्गमें देवता उसे खा जाते हैं ? इसके उत्तरमें ही व्यासदेवने सूत्र किया है कि उन स्वर्गस्थ जीवोंको अन्न कहना गौण है केवल इसी कारण कि आंजानसिद्ध देवताओंके उपकरण होते हैं वे इन्हें भोगते हैं इसीकारण इनको अन्न कह दिया गया है । अन्नका अर्थ भोग्य तथा'भक्षयन्ति'-का अर्थ भुञ्जन्ति याने भोगते हैं यह अर्थ है, कोई देव दानव नहीं हैं जो खा जायँ। (तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणं समाप्तम्)

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च । ३-१-८ ।

कृतात्यये-जिन कर्मोंसे चन्द्रमापर आरूढ़ हुए थे उन कर्मोंका भोगसे नाश होनेपर अनुशयवान्-योनिप्रापक कर्माशयसहित ही वापिस आते हैं यह दृष्टस्मृतिभ्याम्-श्रुति और स्मृतियोंमें मिलता है च-और यथा-जिस रास्तेसे इतम्-गये थे अनेवम्-आते उससे नहीं हैं ।

यदि सब ही कर्म चन्द्रलोकमें पूरे हो जायँ तो फिर जन्म ही न हो किन्तु जो कर्म चन्द्रलोकमें भोगनेके थे वे भुग चुकनेके बाद जैसा विपाक उदय होता है दूसरे रास्तेसे उसीके लिये चल देता है ।

चरणादितिचेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः । ३-१-९ ।

चरणात्-चरणशब्दसे कर्म नहीं ग्रहण किया जा सकता कारण लोकमें आचार, शील, वृत्त और चरणको एकार्थक माना है । श्रुतियोंमें कर्म और आचारका पृथक् उपदेश दिया है इति चेत्-ऐसा कहो तो न-नहीं कह सकते क्योंकि कार्ष्णाजिनिः-कार्ष्णाजिनि आचार्य्य चरण श्रुति, तदुपलक्षणार्था-तत-कर्मको लक्षणावृत्तिसे बोधन करनेवाली है इति-यह मानते हैं ।

छा०-तद्य इह रमणीयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूय चरण अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं चाण्डालयोनिं वा-पर लोकसे इस लोकमें आनेवाले प्राणियोंमेंसे जिनके जैसे कर्म होते हैं वे वैसे ही जन्म लेते हैं जिनके पवित्र ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यके कर्म हैं वे उन्हींके घरोंमें जन्म लेते हैं, जिनके बुरे कर्मका उदय हुआ है वे श्वान सूकर और चाण्डालोंके घरोंमें जन्म लेते हैं यहां चरणशब्दसे कर्मका ग्रहण किया है ।

इसपर किसीने पूर्वपक्ष किया था कि चरणशब्द लोक और वेदमें आचरण याने आचारमें प्रसिद्ध है आप कर्म अर्थ कैसे करते हैं ? आचार और कर्म तो भिन्न २ हैं, इस शंकाका उत्तर व्यासदेवजीने दिया है कि कार्ष्णाजिनि आचार्य्य यह मानते हैं कि यह चरण शब्द कर्मका ही बोधक है । इसकी व्युत्पत्ति यह है कि "चर्य्यत इति चरणं कर्म" जो चरा जाय याने किया जाय उसे चरण (कर्म) कहते हैं-खाली आचारसे सुख दुःखकी प्राप्ति नहीं हो सकती इस कारण अच्छी और बुरी योनि देनेवाले इस श्रुतिमें आये हुए चरणशब्दको लक्षणा वृत्तिसे पाप पुण्य कहनेवाला आचार और कर्मके भेद वादीको भी मानना चाहिये ।

आनर्थक्यमितिचेन्न तदपेक्षत्वात् । ३-१-१० ।

आनर्थक्यम्-आचार अनर्थक है इति-ऐसा चेत् तो न-नहीं कहसकते हैं, तदपेक्षत्वात्-आचारके अंधीन कर्मको होनेसे ।

आचार निष्फल नहीं है आचारवालेको ही पुण्यकर्मोंमें अधिकार है आचार हीनको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते, आचार बिना कर्म हो ही नहीं सकते ।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः । ३-१-११ ।

सुकृतदुष्कृते-शुभ अशुभ कर्म एव-ही चरणशब्दके अर्थ हैं इति-ऐसा तु-तो बादरिः-बादरि आचार्य्य मानते हैं ।

इष्टापूर्तवाला मरकर जिस मार्गसे जाता है वहांका भोग खतम होते ही दूसरे रासते वापिस आता है । फिर अच्छे आचार और कर्मवाले अच्छे योनिको प्राप्त होते हैं और कदाचारी तथा बुरे कर्मवाले बुरी योनिको पाते हैं । बादरि-आचार्य्य-छा०५-१०-७ में आये हुए चरणशब्दका अर्थ सुकृत दुष्कृत है तथा ऐसे और उपनिषद्के प्रकरणोंमें भी यही व्यवस्था समझना । (कृतात्ययाधिकरणं समाप्तम्)

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् । ३-१-१२ ।

च-और अनिष्टादिकारिणाम्-आप तो केवल यज्ञ करने और कूआँ बावडी आदि बनानेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते हैं, ऐसा कहते हो ? कौषीतकि उपनिषद् पहिले अध्यायके दूसरे ब्राह्मणकी पहिली श्रुतिमें लिखा हुआ मिलता है कि सब ही की गति याने इष्टादिकारियोंकी तरह अनिष्टादिकारियोंकी अपि-भी गति चन्द्रलोकमें श्रुतम्-सुनी जाती है ।

कौषीतकिमें लिखा हुआ है कि ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयंति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति जो भी कोई हो सब इस लोकसे चन्द्रलोकमें जाता है पर आप कहते हैं कि इष्टादिकारी ही चन्द्रलोकमें जाता है सो यह कैसे कहते हो ?

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् । ३-१-१३ ।

संयमने-यमके शासनमें अनुभूय-यमके दिये हुए पापफलोंका अनुभव करके तु-तो आरोहावरोहौ-चन्द्रमंण्डलमें पहुँचकर वहांसे उतरते हैं । तद्गतिदर्शनात्-उत्तरायण और दक्षिणायनके मार्गोंसे परिभ्रष्टोंकी यमलोकमें गति देखी जाती है ।

जो दोनों गतियोंसे शून्य प्राणी हैं वे यमलोकमें पहुँचकर पापोंका फल भोगते हैं पीछे उनका चंद्रमण्डलमें आरोह और पीछे उससे अवरोह होता है । क०अ०-१-व-२ न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनःपुनर्वशमापद्यते मे परलोक अविवेकीको नहीं दीखता, क्योंकि वह विषयोंकी आशासें वा धनके गर्वसे प्रमाद करता रहता है न वह इस लोकको मानता है और न परलोकको मानता है, इस कारण वारंवार मेरे वशमें आता है ।-इस श्रुतिमें नास्तिकोंकी जो जागरूकोंके कर्तव्योंसे सहस्रों कोस विमुख है यमके लोकमें जाना और यमके वशवर्ती हो रहना लिखा है ।

स्मरन्ति च । ३-१-१४ ।

च-और पराशरादिक सब स्मरन्ति-ऐसा ही स्मरण करते हैं कि सब भगवान् यमके वशमें पहुँचते हैं ।

स्मृतियोंमें लिखा हुआ है कि पाप करनेवाले यमके वश हो यमके दिये हुए पापफलको भोगते हैं ।

अपि च सप्त । ३–१–१५ ।

सप्त–पापियोंके जानेके लिये सात रौरवादिक नरकोंको अपि च–भी वे ही पराशरादिक स्मरण करते हैं ।

योगशास्त्रमें " भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् " इस सूत्रपर भगवान् व्यासदेवने अवीचि, महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र ये सात नरक बताये हैं । भागवतमें नरक अधिक बताये हैं ये सात भी उन्होंमें आगये हैं, पराशर आदि इन सात नरकोंको भी लिखते हैं ।

तत्रापि तद्व्यापारादविरोधः । ३–१–१६ ।

तत्र–उन सात नरकोंमें अपि–भी तद्व्यापारात्–यमकी ही आज्ञासे जाते हैं, इसलिये अविरोधः–यमके सदनकी प्राप्ति तथा इनकी प्राप्ति कोई विरोध नहीं रखती ।

इन नरकोंमें भी यमके नियुक्त पुरुष यमकी आज्ञाके अनुसार शासन करते हैं, इसलिये वहां भी यमके ही वशमें समझना चाहिये ।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् । ३–१–१७ ।

विद्याकर्मणोः–विद्या और कर्मके फल भोगनेके लिये देवयान, पितृयानमार्ग होते हैं । श्रद्धा, तप, तथा इष्ट और पूर्तसे रहित प्राणिवर्गको दोनों ही नहीं हैं, तब चन्द्रलोक कहांसे जा सकते हैं । इति–यह तु–तो प्रकृतत्वात्–देवयान और पितृयानके मूलमें ही परिस्फुट है कि इन दोनों मार्गोंसे फल भोगनेके लिये जाता है, दूसरे कारण नहीं ।

जो जन ब्रह्मप्राप्ति तथा पितृलोकके कर्मसे परिभ्रष्ट हैं, वे यमलोकमें जाते हैं, और लोकमें नहीं जाते ।

न तृतीये तथोपलब्धेः । ३–१–१८ ।

तृतीये–नारकियोंके लिये न–आहुतिकी अपेक्षा नहीं है । तथा–विना ही आहुतिके उपलब्धेः–उनके देहकी उपलब्धि होनेसे ।

नारकियोंके देह विना योनिके पैदा होते हैं । उनमें मनुष्यदेहकी तरह गर्भाधान आदिकी आवश्यकता नहीं है ऐसा ही उपनिषदोंमें लिखा हुआ है । छा० ५–१०–८ **अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राणि असकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्य्यते**–जो प्राणी देवयान और पितृयान दोनोंसे ही परिभ्रष्ट हैं, वे ये मच्छर कीड़े मकोड़े आदि नाना प्रकारके क्षुद्र जीव बनकर वारंवार मरते और जन्मते रहते हैं ऐसे जीव स्वर्ग नहीं पहुँचते ।

इस श्रुतिसे यह बात परिस्फुट प्रतीत होती है कि नारकी इसी तरह पैदा होते और मरते रहते हैं उन्हें पांच भी आहुतिकी जरूरत नहीं है ।

स्मर्य्यतेऽपि च लोके । ३–१–१९ ।

च–और लोके–लोकमें पुण्यकर्माओंको अपि–भी–विना आहुतिके देहकी प्राप्ति स्मर्य्यते–स्मरण की जाती है ।

द्रौपदी और धृष्टद्युम्न विना ही पाचवीं आहुतिके उत्पन्न हुए थे, कुँछ पुण्यशील भी ऐसे होते हैं कि पांचवीं आहुतिकी आवश्यकता नहीं रखते ।

दर्शनाच्च । ३-१-२० ।

च-और विना आहुतिके भी वृक्षआदि तथा पसीनासे पैदा होनेवाले जन्तुओंकी उत्पत्ति दर्शनात्-देखी जाती है ।

उद्भिज्ज और स्वेदज विना पांचवीं आहुतिके उत्पन्न हुए देखे जाते हैं तथा श्रुतिमें भी ऐसा ही लिखा है:-

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य । ३-१-२१ ।

संशोकजस्य-स्वेदजका तृतीयशब्दावरोधः-उद्भिज्जशब्दसे ग्रहण हो जाता है ।

ब्रह्मविद्याके उपासक अर्चिरादिमार्गसे ब्रह्मलोक चले जाते हैं, इष्टापूर्तके उपासक चन्द्रलोकसे फिर वापिस पंचाहुतिके क्रमसे आकर अपने कर्म और आचारके अनुसार जन्म ले लेते हैं ।

इन दोनोंसे इतर जो प्राणी होते हैं वे यमलोकमें अपने कियेका फल पाते और अनायास जीते मरते रहते हैं । छा० में जो तीन तरहके प्राणी कहे हैं उनमें उद्भिज्जसे स्वेदजका भी ग्रहण करना चाहिये, धृष्टद्युम्नकी तरह विना योनिके भी हो सकता है; तेषां भूतानां त्रीण्येव बजािनि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति छा० ६-१३-२ इन सब भूतोंकी तीन तरहकी उत्पत्ति है; कोई अण्डेसे, तो कोई जरायुसे, तो कोई स्थावरसे इस तीसरी उत्पत्तिसे स्वेदजका भी ग्रहण हो जाता है यह इस सूत्रका मन्तव्य है । (अनिष्टादिकार्य्यधिकरणं समाप्तम्)

तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः । ३-१-२२ ।

तत्साभाव्यापत्तिः-आकाशादिके सुखदुःखाभावरूप सादृश्यकी प्राप्ति होती है । उपपत्तेः-आकाशसे वायुआदिकी प्राप्ति होनेके कारण बृ० ६-२-१६ तथा छा० ५-१०-५-६ में चन्द्रलोकसे अवरोहक्रमको कहा है कि, चन्द्रलोकके भोग साधन कर्मके नाश होनेपर वहांसे नीचेकी ओर गिरता हुआ क्रमशः आकाश, वायु, वृष्टि, पृथिवी, अन्नभावको प्राप्त हो, पुरुषके पेटमें पहुँच स्त्रीकी योनिके मार्गसे गर्भस्थानमें चला जाता है । (तत्साभाव्यापत्त्यधिकरणं समाप्तम्)

नातिचिरेण विशेषात् । ३-१-२३ ।

अतिचिरेण-आकाशसे लेकर व्रीह्यादिकी प्राप्ति बहुत समय लगाकर न-नहीं होती अर्थात् शीघ्र ही हो जाती है । विशेषात्-व्रीह्यादिभावसे निकलना मुश्किल बतानेके कारण-

उसमें जीवको औरोंमें तो देर नहीं लगती परन्तु अन्नभावसे पीछा छुड़ाना मुश्किल होता है, क्योंकि छा० ५-१०-६ अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्, इस अन्न भावसे पीछा छुटाना मुश्किल है । (नातिचिरेणाधिकरणं समाप्तम्) ।

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् । ३-१-२४ ।

अन्याधिष्ठिते-दूसरे जीवोंसे अधिष्ठित व्रीह्यादिकमें पूर्ववत्-आकाशादिके सादृश्य प्राप्तिकी तरह अभिलापात्-ही व्यवहार है ।

व्रीहिआदिका अधिष्ठाता जीव दूसरा होता है इस अवरोह करनेवाले जीवका तो उसके साथ संश्लेष मात्र होता है क्योंकि श्रुतिने तद्भावमात्रका ही कथन किया है ।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् । ३-१-२५ ।

अशुद्धम्—चन्द्रलोकसे अवरोह करनेवाले प्राणीके अशुभ कर्मसे व्रीह्यादिके साथ संश्लेष होता है इति—ऐसा कहो चेत्—तो न—नहीं कह सकते क्योंकि शब्दात्—इष्ट और पूर्तमें शास्त्र पाप नहीं बतलाता ।

कोई दार्शनिक यह कहते थे कि—यज्ञादिकमें जो हिंसा की है उसके पापके फलस्वरूप स्थावर भावकी प्राप्ति आतीवार होती है, क्योंकि उसका जो पुण्यका फल था वह तो स्वर्गमें पहुँचकर भोग ही लिया । उनके उत्तर देनेके लिये यह सूत्र किया है कि यज्ञ आदिमें वेद कोई पाप नहीं कहता, इस कारण इसे पापका फल नहीं कहा जा सकता ।

रेतःसिग्योगोऽथ । ३-१-२६ ।

अथ—इसके पीछे रेतःसिग्योगः—रेतसिंचनके लिये समर्थ जो शरीर उस शरीरके साथ योग होता है ।

अन्नभावको प्राप्त होनेके पीछे जवान पुरुषके भोजनमें पहुँचता है, पीछे वीर्य्य होकर उस जवान पुरुषसे योषारूप अग्निमें हुत होता है याने स्त्रीप्रसंगके समय स्त्रीके गर्भस्थानमें पहुँच जाता है ।

योनेः शरीरम् । ३-१-२७ ।

योनेः—योनिप्राप्तिके बाद शरीरम्—शरीरकी प्राप्ति होती है । योनिसे गर्भस्थानमें पहुँचकर नौ, दश मासके पीछे पैदा हो जाता है । (अन्याधिष्ठिताधिकरणं समाप्तम्)

इति पं० माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि । ३-२-१ ।

सन्ध्ये—स्वप्नमें जीव सृष्टिः—सृष्टि करता है हि—क्योंकि निश्चयके साथ श्रुति ही आह—कहती है ।

बृ०—न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते—४-३-१० में कहा है कि स्वप्नमें न तो जाग्रतके रथ होते हैं और न घोड़े आदि होते हैं, पर जीव रथ और घोड़े आदि तथा उनके मार्ग बना लेता है । इसी तरह जाग्रत्के तलाब, बावड़ी और नदी आदि कुछ भी वहां नहीं होते, पर जीव अपने लिये यह सब कुछ बना लेता है । यह विषय स हि कर्ता इस पदसे और भी परिस्फुट हो जाता है, यहां जीवका प्रकरण है इसलिये जीव बनानेवाला है ।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च । ३-२-२ ।

च—और एके—कठशाखावाले निर्मातारम्—जीवको स्वप्नमें कामोंका बनानेवाला मानते हैं च—और पुत्रादयः—कामशब्दसे पुत्रादिकोंका निर्देश किया गया है ।

कठशाखावाले कठ-५-८ में य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः इस श्रुतिके कामशब्दसे पुत्रादिक कामनायें ग्रहण करते हैं । तब इस श्रुतिका अर्थ यह होता है कि, यह जीव

सबके सो जानेपर पुत्रादिक कामनाओंका निर्माण करता हुआ जगता रहता है (१-२-१) (१-२-५) में कामशब्दसे अभिलषित पुत्रादिकोंका निर्देश किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वप्नकी सृष्टि जीव करता है।

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् । ३--२--३ ।

तु—स्वप्नकी सृष्टि तो मायामात्रम्—मायामात्र याने आश्चर्यमात्र ही है, क्योंकि जीव संसार-दशामें कार्त्स्न्येन—पूर्णरूपसे अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्—अभिव्यक्त स्वरूप नहीं हैं।

सत्यसंकल्प पुरुषोत्तमकी मायासे जीव-रथ और रथके रास्ते तथा घोड़े आदिके न होनेपर भी उन्हें अनुभव करता है, जीव भी सत्यसंकल्प मुक्तावस्थामें होता है संसारदशामें नहीं, संसारदशामें तो उसके सत्यसंकल्प आदि छिपे रहते हैं, अतएव जीव उनका बनानेवाला नहीं हो सकता।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ । ३--२--४ ।

पराभिध्यानात्—परमपुरुषके संकल्पसे तु—तो इस जीवका स्वाभाविकरूप तिरोहितम्—ढका हुआ है ततः—इस पुरुषोत्तमके संकल्पसे हि—ही अस्य—इस जीवको बन्धविपर्य्ययौ—बन्ध और मोक्ष होता है।

ईश्वरके संकल्पसे जीवका स्वाभाविकरूप छिपा रहता है, इस पुरुषोत्तमके संकल्पसे ही जीवका बन्ध और मोक्ष होता है।

देहयोगाद्वा सोऽपि । ३--२--५ ।

सः—जीवके सत्यसंकल्पपनेका तिरोभाव अपि—भी देहयोगात्—सृष्टिकालमें देहमें अवस्थित अचि-द्वस्तुके योगसे और वा—प्रलयकालमें नाम और रूपके विभागके अयोग्य जो अचिद्वस्तु है उसके योगसे होता है।

जीवके सत्यसंकल्प आदिक स्वाभाविक गुणोंका तिरोभाव भी सृष्टिके समय देहमें रहनेवाली अचिद्वस्तुके योग, एवं प्रलयमें नामरूपके अयोग्य अचिद्वस्तुके योगसे होता है।

सूचकश्च हि श्रुतेराक्षचते च तद्विदः । ३--२--६ ।

च—और भी एक कारण है जिससे स्वप्नके पदार्थ जीवके बनाये हुए नहीं माने जा सकते। सूचकः—स्वप्न भविष्यके सुखदुःखादिकोंका सूचक मानते हैं च—और तद्विदः—स्वप्नाध्यायके जाननेवाले भी आचक्षते—ऐसा ही कहते हैं। श्रुतेः—श्रुतिसे भी ऐसा ही मालूम होता है।

स्वप्नका बनानेवाला जीव नहीं जीवको तो स्वप्नसे शुभाशुभकी सूचना मिलती है छा०—५—२—८ में भी ऐसा ही लिखा हुआ है कि यदा काम्येषु कर्मसु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र विजानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने। जब काम्य अनुष्ठानोंमें सौभाग्यवती स्त्रीको स्वप्नमें देखे तो कार्य्यकी सिद्धि समझे। स्वप्नके फलजाननेवाले भी ऐसा ही कहा करते हैं। (सन्ध्याधिकरणं समाप्तम् ।)

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च । ३--२--७ ।

तद्—उस स्वप्नका अभावः—अभाव नाडीषु—पुरीतती नाड़ीमें च—और आत्मनि—आत्मा होता है। तच्छ्रुतेः—ऐसा श्रुतिसे मालूम होता है।

जब जीवात्मा पुरीतति नाड़ीसे आत्मामें पहुँचता है उस समय उसे स्वप्न नहीं दीखते। ऐसा छा०—८—६—३में तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति

छू०-२-१-१९-ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते इस प्रकार होते हुए संपूर्ण इंद्रियमण्डल रोके हुए जीव बाह्यविषयके संपर्क न होनेसे प्रसन्न होके जब स्वप्न नहीं देखता उससमय पुरीतद्ब्रह्म गमनके लिये इन नाडियोंमें गमन करता है । बृहदारण्य उपनिषदने तो हृदयसे पुरीतति नाड़ीको जानेवाली नाड़ियोंको भी बता दिया है कि उन नाडियोंका नाम हिता है जो हृदयसे पुरीततिको गयी हैं, उन नाडियोंसे पुरीततिमें पहुँचता है छा०-६-८-१ सता सौम्य तदा संपन्नो भवति जिस समय स्वप्न नहीं देखता उस समय सद्ब्रह्मके साथ संगत हो जाता है । इन श्रुतियोंसे मालूम होता है कि पुरीततिके द्वारा आत्मामें चला जाता है ।

अतः प्रबोधोऽस्मात् । ३-२-८ ।

अतः-ब्रह्म ही सुषुप्तिका स्थान है इसकारण अस्मात्-इस ब्रह्मसे ही आकर प्रबोधः-स्वप्न और जाग्रतके पदार्थोंका बोध होता है ।

जिस स्थानमें पहुँचकर जीव सुषुप्त होता है वह ब्रह्म ही है क्योंकि इस ब्रह्मसे ही वापिस आने पर दुनियांका प्रबोध होता है । अथवा-यह ब्रह्म ही सुषुप्तिका स्थान है कारण छा०६-१०-२ सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामहे सत्से आकर नहीं जानते कि सत्से आ रहे हैं । इस "विदुः" याने प्रबोधके विषयमें जो सत्से आकर ऐसा कहा है इससे यह प्रतीत होता है कि सुषुप्ति-स्थान ब्रह्म है दूसरा कोई भी नहीं । (तदभावाधिकरणं समाप्तम् ।)

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । ३--२--९ ।

स एव--जो जीव पुरीततिसे ब्रह्म संपन्न हुआ था वही तु--तो सुषुप्तिको त्यागकर उठता है, कर्म-सुषुप्तसे पहिले जो कर्म किये उनको वही भोगता है, अनुस्मृतिः--सो करके उठनेवाला यही कहता है कि आज मैं खूब सोया अब उठा हूं शब्द-छा०६-९--३ त इह०याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति जो जीव सुषुप्तिसे पहिले जो भी व्याघ्र सिंह आदि कुछ था सुषुप्तिके बाद वही फिर हो जाता है यह स्मृति कहती है । विधिभ्यः--जो सुषुप्तिमें ही मोक्ष हो जाय तो मोक्ष विधायक शास्त्र व्यर्थ हो जाय, क्योंकि सुषुप्ति स्वतः ही मोक्ष-विधि हो जाय जो सुषुप्तिसे जीवका मोक्ष हुए तो ।

जो जीव सुषुप्तिमें ब्रह्ममें विलीन था वही जीव जगनेके समय जगता है दूसरा नहीं । यदि सुषुप्तिके बाद ही दूसरा हो जाय तो अपने कर्मोंका फल आप न भोग सके, दूसरे जिन बातोंको याद करके सोता है सुबह उन्हीं कर्तव्योंमें फिर व्यग्र होता है यह नहीं होता कि एक जीवके अनुभवों-को दूसरा जीव स्मरण करता हो । तीसरे जब सुषुप्तिमें ही मोक्ष हो जाता है तो फिर सब जीव मोक्ष तो स्वतः हो ही जायँगे बड़े बड़े मोक्षशास्त्रोंकी फिर कोई आवश्यकता ही नहीं रहती ।

इस कारण-सुषुप्तिमें जो ब्रह्ममें विलीन था वही जीव जाग्रतमें प्रबुद्ध होता है यह सिद्धान्त स्वीकार करना होगा । (कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरणं समाप्तम्)

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् । ३-२-१० ।

मुग्धे--मूर्च्छितपुरुषमें जो उस समयकी उसकी दशा है वह अर्द्धसम्पत्तिः--आधी मरणावस्था होती है और मरण परिशेषात्-जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिमें अन्तर्गत न होनेसे ।

मुग्ध इंद्रियोंसे विषयोंका अनुभव नहीं कर सकता, इसलिये वह जाग्रत् अवस्थामें भी नहीं कहला सकता और न स्वप्नमें ही संभाला जा सकता है । सोनेवाला पुरुष प्रसन्नवदन आँख मीचे

दीखता है यह मूर्च्छित पुरुषकी आँखें फटी हुई रहती हैं और चेहरा विवर्ण हो जाता है, इस कारण वह सुषुप्त भी नहीं कहला सकता।

मरणके समय सब प्राण देहके साथ सम्बन्ध छोड़ देते हैं और मूर्च्छाके समय सूक्ष्म प्राणोंका देहके साथ सम्बन्ध बना रहता है यह मरण और मूर्च्छामें अन्तर है। इसीकारण मूर्छाको मरणसे आधी सम्पत्ति कहते हैं। (मुग्धाधिकरणं समाप्तम्।)

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि। ३-२-११।

स्थानतः--बृ०-३--७-२में उद्दालक आरुणिने कहा है कि-अन्तर्यामिणं ब्रूहि-अन्तर्यामीको कहो, उसके इस प्रश्नको सुनकर याज्ञवल्क्यने २३ तक उत्तर दिया है उसका आशय यहां देते हैं कि-जो-जमीन, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, दिव, आदित्य, दिशा, चांद, तारे, आकाश, तम, तेज; प्राणी, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, विज्ञान एवं रेतमें स्थित हो इनकी प्रवृत्ति निवृत्तिरूप नियमन करता है, जिसे ये नहीं जानते जिसके कि ये शरीर हैं वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी और अमर है. ये जो स्थान गिनाये हैं इन स्थानोंसे अपि—भी परस्य—पृथिव्यादिक शरीरोंमें अन्तर्यामीरूपसे रहनेवाले परब्रह्मको न--तत्तत्स्थानसम्बन्धरूप जो अपुरुषार्थ उसका गन्धमात्र भी नहीं है हि—क्योंकि सर्वत्र श्रुतिस्मृतियोंमें सब जगह परब्रह्मका लक्षण उभयलिङ्गम्--निर्दोषपना और कल्याणकारी गुणोंका खजाना कहा गया है।

परब्रह्म पृथिवी आदिमें रहकर उनका अन्तर्यामी होता हुआ भी स्थानसम्बन्धी दोषोंसे दूषित नहीं होता, कारण वह स्वतः ही दोषोंसे रहित एवम् कल्याणकारी गुण रूप असाधारण लक्षणवाला है ऐसा ही उसे श्रुति-स्मृति भी कहती है कि, वह अपहतपाप्मादि एवं सत्यसंकल्प है।

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्। ३--२--१२।

भेदात्—बृहदारण्य०—३-७-२ से ३-७-२३ तक जो स्थान गिनाये हैं उन सबको आपसमें जुदे २ होनेके कारण शुचि अशुचि सम्बन्धरूप अपुरुषार्थपना ब्रह्मको प्राप्त होगा इति—ऐसा कहो चेत्—तो न—नहीं कह सकते प्रत्येकम्—पृथिव्यादिक प्रत्येकमें अतद्वचनात्—अमृतत्वका विधान होनेसे।

पृथिव्यादिक अच्छे बुरो शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे परब्रह्ममें कोई दोष नहीं आता, कारण प्रत्येक सम्बन्ध बोधक श्रुतिमें अमृतशब्दका उच्चारण किया है।

अपि चैवमेके। ३--२--१३।

अपि च--इससे इतर और भी एके-मुण्डकशाखावाले एवम्--ऐसा ही मानते हैं।

मुण्डकोपनिषद्वाले द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया इस श्रुतिसे एक ही देहमें जीव और ईश्वर दोनोंका सम्बन्ध मानते हुए जीवको अपुरुषार्थपना एवं ईश्वरमें नियमनकर्तृत्व एवं दीप्तियोग स्वीकार करते हैं। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ पक्षीके समान दोनों समानगुणवाले अपहतपाप्मत्वादि गुणोंसे परस्परमें दोनों समान, एकही शरीररूपी वृक्षपर बैठे हुए हैं, उनमें एक तो कर्मविपाकको भोगता है, एक विना कर्मविपाकरूपफलको भोगे प्रकाश करता है।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्। ३-२-१४।

तत्—वह ब्रह्म हि—निश्चयके साथ अरूपवत्--जीवकी तरह कर्मवश्य और सुख दुःखका भोक्ता

नहीं है कारण कि प्रधानत्वात्–छा० ८ की "आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता" श्रुतिमें नाम रूपके कार्य्योंके स्पर्शसे रहित एवं नामरूपके निर्वाहक याने व्याकर्ता ब्रह्मको कहती है ।

जीवकी तरह घटघटमें रहता हुआ भी ब्रह्म कर्मवश तथा सुखदुःखका भोक्ता नहीं है, संपूर्ण दोषोंसे रहित तथा संपूर्ण कल्याणकारी गुणोंका खजाना है ।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् । ३–२–१५ ।

च–और अवैयर्थ्यात्–जैसे तै०–२–१ की 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिक वाक्योंको व्यर्थ न होने देनेके कारण, प्रकाशवत्–प्रकाशस्वरूप ब्रह्मको मानते हैं । उसी तरह सत्यसंकल्पत्व, सर्वदोषरहितत्वादि बतानेवाले वाक्योंको व्यर्थ न होने देनेके लिये ब्रह्मको कल्याणकारी गुणोंका खजाना एवं संपूर्ण दोषरहित स्वीकार करना चाहिये । सत्यम्–उपाधिरहित सत्तावाला ज्ञानम्–नित्य एवं असंकुचित ज्ञानवाला अनन्तम्–देश काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न निरतिशय बृहत्त्वका आश्रय ब्रह्म है यह श्रुतिका अर्थ हुआ ।

आह च तन्मात्रम् । ३–२–१६ ।

च–और तन्मात्रम्–तै०–२–१ की पूर्वोक्त श्रुति प्रकाश–स्वरूपपनेभरको, आह–कहती है, कल्याणकारी–गुणवालापना एवम् संपूर्ण दोष रहितपनेका निषेध नहीं करती ।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते । ३–२–१७ ।

च–और दर्शयति–वेदान्तगण ब्रह्मको समस्त दोषोंसे रहित और कल्याणकारी गुणोंकी राशि कहते हैं अथो–और स्मर्य्यते–स्मरण अपि–भी ऐसा ही करते हैं ।

ब्रह्म स्वभावसे ही समस्त दोषरहित एवं संपूर्ण कल्याणकारी गुणोंकी राशि हैं । इस कारण ऊँचे नीचे स्थानोंके संसर्गसे होनेवाले दोष उसे नहीं छूते ।

अत एव चोपमा सूर्य्यकादिवत् । ३–२–१८ ।

च–और अत एव–अनेक ऊँचे नीचे स्थानोंका सम्बन्धी होनेपर भी वह निर्दोष है इस कारण ही उपमा–उपमा करते हैं या उपमा है कि सूर्य्यकादिवत्–जल दर्पणादिमें प्रतिबिम्बितसूर्य्यादिकोंकी तरह वहां वहां अवस्थित होकर भी निर्दोष है ।

परमात्माको स्थानप्रयुक्त दोष स्पर्श नहीं कर सकते, इस कारण उसको सूर्य्य आदिकी उपमा दी गयी है ।

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् । ३–२–१९ ।

अम्बुवद्ग्रहणात्–याने आदिमें जिस तरह सूर्य्यादिके प्रतिबिम्बको भ्रान्तिसे सूर्य्यादि कहा जाता है, उस तरह ब्रह्मका पृथिवी आदिमें ग्रहण न होनेसे तु–तो तथात्वम्–दृष्टान्त सूर्य्यकी तरह दार्ष्टान्त ब्रह्म नहीं है ।

जैसे पानी आदिमें सूर्य्यकी परछाईको भ्रमसे सूर्य्य कहा जाता है, वास्तवमें सूर्य्यादि उनमें नहीं हैं पर परमात्मामें यह बात नहीं है, परमात्मा वास्तवमें पृथिवी आदिमें रहता हुआ उनके दोषोंसे रहित है । इस तरह दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों एक नहीं हैं ।

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च। ३-२-२०।

अन्तर्भावात्-पृथिवी आदि स्थानोंमें ब्रह्म भीतर है इस कारण वृद्धिह्रासभाक्त्वम्-पृथिवी आदि-के अनुसार उपचय अपचय छोटा बड़ापना ब्रह्मको भी प्राप्त होता है, उसका निवारण उपनिषदोंमें सूर्य्य आदिकी उपमा देकर किया है। क्योंकि उभयसामञ्जस्यात्-दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनोंकी एकता करनेके कारण, एवम्-इस तरह मानना ठीक है।

जिस तरह आकाश घड़े शकोरेमें रहता हुआ भी उनकी वृद्धि तथा ह्रासके कोई सरोकार नहीं रखता। जिस तरह सूर्य्य चांदके प्रतिबिम्ब पानीमें रहते हुए भी पानीके गुणोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इसी तरह वास्तवमें पृथिवी आदिमें परमात्मा रहता हुआ भी उनके गुणोंसे कोई संबन्ध नहीं रखता।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः। ३-२-२१।

हि-निश्चयके साथ बृ०-२-३-६ में जो नेति नेति कहा है वह प्रकृतैतावत्त्वम्-द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च सच्च यच्च त्यच्च बृ०-२-३-१में जो कठिन अकठिन विनश्वर अमृत अव्यापक प्रत्यक्षोपलभ्य व्यापक तथा उससे इतर यह जो प्रतियोगी और अनुयोगी दोरूप ब्रह्मके बताये, ब्रह्मके इतने ही रूप हैं, इस बातको अथात आदेशो नेति नेति इसका यह उपदेश है कि जो बताया है इतना नहीं है यह श्रुति प्रतिषेधति-निषेध करती है। च-और ततः-उससे भूयो ब्रवीति-अधिक गुणवाला कहती है।

बृ०-२-३-१-में जो यह कहा है कि कठिन और अकठिन तथा विनश्वर और अमृत आदि प्रतियोगी और अनुयोगीके रूपमें उपदेश दिया है उसीको बृ०-२-३-६ में निषेध कर दिया है कि, जो तुमने यह समझ लिया हो कि इतना ही है यह नहीं है किन्तु उससे भी अधिक है। प्रकृत याने प्रसंगसे आया हुआ जो इतनापना कि कठिन अकठिन आदि अनुयोगि-प्रतियोगिमात्र इतना ही ब्रह्म है इस बातका नेति नेतिसे निषेध करके कहते हैं कि उससे भी अधिक है।

तदव्यक्तमाह हि। ३-२-२२।

हि-निश्चयके साथ शास्त्र तत्-उस ब्रह्मको अव्यक्तम्-अव्यक्त-याने शास्त्र-प्रमाणको छोड़ दूसरे प्रमाणसे न विदित होनेवाला आह-कहती है।

शास्त्रके विना ब्रह्मका भान होना मुसकिल है, इस कारण शास्त्र उसके इतनेपनेको निषेध करता है दूसरा कारण नहीं है।

"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" इसका रूप दर्शनके निमित्त सामने नहीं दीखता, इसे आंखोंसे कोई भी नहीं देखता। न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा न वह आँखोंसे ग्रहण किया जा सकता है और न वाणीसे ग्रहण किया जाता है। ये श्रुति ब्रह्मको अव्यक्त कहती हैं।

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ३-२-२३।

अपि-किन्तु संराधने-भक्तिरूपको प्राप्त हुए निदिध्यासनसे उसका साक्षात्कार होता है, यह प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्-श्रुति और स्मृति दोनोंसे विदित होता है।

जब भक्त सच्चे हृदयसे उसे सच्ची लगनके साथ याद करते हैं, तब वह उनके मन चाहे रूपमें उनके सामने प्रत्यक्ष होकर अपनी लीलाका अमर आनन्द दिखाता है।

भगवान्ने गीतामें कहा है कि "नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन " वेद, तप, दान और यज्ञसे मैं ऐसा नहीं देखा जाता, जैसा कि इस अनन्य भक्तिसे मेरे भक्त मुझे देखते हैं । अनन्य भक्तिसे वह अव्यक्त ही देखा जा सकता है ऐसा श्रुति-स्मृति कहती हैं ।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् । ३-२-२४ ।

च-और प्रकाशादिवत्-ब्रह्मके प्रकाशादि गुणोंकी तरह मूर्तामूर्त प्रपञ्च विशेषोंको भी अवैशेष्यम्-ब्रह्मगुणसे अविशेषता याने ये भी ब्रह्मके गुण हैं च-और प्रकाशः-ब्रह्मका प्रकाश कर्मणि-भक्तिरूप निदिध्यासनमें अभ्यासात्-अभ्यास करनेसे होता है ।

जिसतरह भक्तिसे प्रकाश हो जाता है, उसी तरह मूर्तामूर्त आदिका भी अनुभव हो सकता है । क्योंकि प्रकाशादि गुणोंकी तरह मूर्त अमूर्त आदि गुण भी ब्रह्मके हैं, जिस तरह भक्तिमें अनन्य अभ्याससे प्रकाशका साक्षात्कार हो जाता है, उसी तरह मूर्त अमूर्त गुणका भी साक्षात्कार हो जाता है ।

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् । ३-२-२५ ।

अतः-इन पूर्वोक्त हेतुओंसे अनन्तेन-अनेक कल्याणकारी गुणगणोंसे युक्त परमात्मा है यह सिद्ध होता है । तथाहि-इस तरह सिद्ध हो जानेपर ही लिङ्गम्-स्वभावसे समस्तदोषरहित एवं अनेक कल्याणकारी गुणोंका खजाना ब्रह्म सिद्ध होता है ।

इन कहे हुए कारणोंसे ब्रह्म अनन्त कल्याणकारी गुणोंसे युक्त है यह सिद्ध होता है और ब्रह्म स्वभावसे ही निर्दोष और समस्त कल्याणकारी गुणवाला सिद्ध होता है । (उभयलिङ्गाधिकरणं समाप्तम्)

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् । ३-२-२६ ।

उभयव्यपदेशात्-तादात्म्य तथा भेदव्यपदेशसे अहिकुण्डलवत्-सापके सीधेपने और गुड़मुड़पने-की तरह तु-तो अचिद्वस्तु ब्रह्मकी ही एक संस्थानविशेष है ।

जिस तरह एक ही सर्व अपने शरीरको सीधा और गुड़मुड़ यानी कुण्डलाकार बना लेता है, उसीतरह ब्रह्मके ही संस्थानविशेष अचिद्वस्तु है । तादात्म्य तथा भेदके निर्देशसे सापके कुण्डलकी तरह अचिद्वस्तु ब्रह्मरूप है ।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् । ३-२-२७ ।

वा-अथवा तेजस्त्वात्-अपने तेजपनेसे प्रकाशाश्रयवत्-प्रकाश और प्रकाशके आश्रय सूर्य्यादिको भिन्न होनेपर भी उनका तादात्म्य है इसी तरह अचित्प्रपञ्च भी ब्रह्मका रूप है । (अथवा तेजपनेके कारण प्रकाश तथा प्रकाशके आश्रयकी तरह अचित्प्रपंच भी ब्रह्मरूप है)

पूर्ववद्वा । ३-२-२८ ।

वा-अथवा पूर्ववत्-पहिलेकी तरह अचिद्वस्तु ब्रह्मका अंश है । जीवकी तरह अचिद्वस्तु भी ब्रह्ममें विशेषण है, अंश विशेषण होता है यह पहिले भी कह चुके हैं ।

प्रतिषेधाच्च । ३-२-२९ ।

च-और प्रतिषेधात्-अचिद्वस्तु शरीर आदिके जो जरा आदि धर्म हैं उनका प्रतिषेध ब्रह्मके लिये किया गया है, तब अंशांशिभाव विशेषणविशेष्यभावसे ही है ।

सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुसहित तो कारणभूत ब्रह्म है और स्थूलचिदचिद्वस्तुयुत कार्य्यभूत ब्रह्म है कारणसे कार्य्य भिन्न नहीं होता, इसलिये सर्व निर्देश युक्त हैं, ब्रह्म स्वभावसे दोषरहित और कल्याणकारी गुणोंका खजाना है । (अहिकुण्डलाधिकरणं समाप्तम्)

परमतःसेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः । ३--२--३० ।

अतः--इस ब्रह्मसे भी परम्--पर कुछ है, क्योंकि सेतु--छा०--८--४--१ में आत्माको सेतु कहा है, सेतु तो पार करनेका साधन होते हुए पार किया जाता है,छा०--८-४--२ में इस सेतुको पार करना भी लिखा है, उन्मान--तथा चतुष्पाद और अष्टादश शफ यह जो अनुमान किया है इससे मालूम होता है कि, जिसका प्रतिपादन किया गया है वह इतना ही है उससे अधिक और भी वस्तु है ।

सम्बन्ध--सेतुका सेतुमानके साथ सम्बन्ध होता है, ब्रह्मको सेतु कहा है फिर उसका सम्बन्धी सेतुमान भी अवश्य होना चाहिये । तथा भेद--परात्परम् यह जो परसे पर भेद दिखाया है, इससे व्यपदेशेभ्यः--इन पूर्वोक्त व्यपदेशोंके कारण इस ब्रह्मसे भी परे कोई ब्रह्म है यह पूर्वपक्ष हुआ ।

सामान्यात्तु । ३--२--३१ ।

सामान्यात्--जिसतरह बाध मर्य्यादा रखता है, उसी तरह ब्रह्म अपनी शक्तिसे पदार्थोंको मर्य्यादित रखता है, इस मर्यादाकरणरूप सामान्यसे तु-तो ब्रह्मको सेतु कहा गया है दूसरा कारण सेतु कहनेका नहीं है ।

बुद्ध्यर्थः पादवत् । ३--२--३२ ।

पादवत्--जिसतरह मनके चार पाद वाग्,प्राण, चक्षु और श्रोत्र कह दिये हैं, उसी तरह बुद्ध्यर्थः--उपासनाके लिये ब्रह्मको चार पाद और सोलहकलावाला कह दिया है ।

जिसतरह उपासनाके लिये गायत्रीप्रकरणमें पादकी कल्पना की है, उसी तरह यह सेतु आदिकी भी कल्पना उपासनाके लिये ही है ।

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् । ३--२--३३ ।

स्थानविशेषात्--झारी झरोखे आदिसे प्रकाशादिवत्--आतप,अग्नि आदिके भेदकी तरह वागादिक स्थान विशेषरूप उपाधिके भेदसे तत्सम्बन्धी ब्रह्मका भी भेदसे अनुसन्धान किया जाता है ।

रोशनी एक ही है, पर झारी झरोखे गवाक्ष आदिसे भीतर जानेपर उसे यह झारीकी यह झरोखे और यह गवाक्षकी घाम है यह भेद हो जाता है, उसीतरह परब्रह्मके भी हृदय आदिके सम्बन्ध रहनेसे ब्रह्मकी उपासना भेदसे हो जाती है ।

उपपत्तेश्च । ३--२--३४ ।

च--और उपपत्तेः--परमपुरुष अपनी प्राप्तिमें आप ही उपाय है उससे दूसरा नहीं, इसकारण उसे सेतु कहा जा सकता है ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् । इस आत्माको कोई श्रवण,मनन,निदिध्यासनसे नहीं पा सकता, जबतक कि यह आत्मा उसे न चाहे;जिसे यह आत्मा चाहता है वही इसे पा लेता है उसीके सामने यह आत्मा अपने स्वरूपको प्रगट कर देता है, यह श्रुति आत्माकी प्राप्तिका कारण स्वयं आत्माको ही कहती है, इस तरह आत्मा अपना सेतु आप ही है किसी दूसरेका सेतु या प्रापक नहीं है ।

तथाऽन्यप्रतिषेधात् । ३--२--३५ ।

तथा--तैसे ही श्रुतिने ब्रह्मसे अन्यप्रतिषेधात्--अन्यका प्रतिषेध किया है इसकारण ब्रह्मसे परे कुछ

नहीं है "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचिद् । वृक्ष इव स्तब्धा दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् श्वेताश्वतर ३-८-९ में कहा गया है कि,उस ब्रह्मको जानकर ही मोक्षको प्राप्त होते हैं दूसरा रास्ता मोक्षका नहीं है । उससे पर अपर कुछ भी नहीं है, एक वह त्रिपाद् हो दिवमें बैठा है इस तरह ब्रह्मसे इतरका प्रतिषेध होनेसे ब्रह्मसे परे कुछ नहीं है यह सिद्ध होता है । श्रुतिके चौथे पादका अर्थ दूसरे सूत्रमें करेंगे ।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः । ३-२-३६ ।

अनेन-इस ब्रह्मद्वारा सर्वगतत्वम्-सब जगत् व्याप्त है, यह आयामशब्दादिभ्यः-विस्तार या व्याप्तिवाचक श्रुत्यादिसे विदित होता है ।

तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्-इस पुरुषसे सब पूर्ण है यह जो कहा गया है तथा ब्रह्मैवेदं सर्वम्-यह सब ब्रह्म है इनसे मालूम होता है कि ब्रह्म सब जगह व्यापक है । (पराधिकरणं समाप्तम्)

फलमत उपपत्तेः । ३-२-३७ ।

अतः इस परमात्मासे ही फलम्-कर्मका फल मिलता है, क्योंकि उपपत्तेः-भोग और अपवर्गरूप फलका दाता यही सुना जाता है ।

कर्मोंका फल परमात्मा देता है, जड़ कर्मफल नहीं दे सकता दूसरे कर्म क्षणध्वंसि हैं, पर फल कालान्तरमें होता है, इस कारण फल देनेवाला ईश्वर ही है और भी कई दर्शन कर्मोंका फल देनेवाला ईश्वरको ही मानते हैं ।

श्रुतत्त्वाच्च । ३-२-३८ ।

च-और इस हेतुसे भी यह प्रतीत होता है कि कर्मफल देनेवाला परमात्मा है, श्रुतत्वात्-यह उपनिषदोंमें सुना जाता है ।

तै० २-७ में कहा है कि ब्रह्म ही जीवोंको आनन्द देता है याने यही महान् अज आत्मा (वसुदानः) कर्मफलका देनेवाला है यह कहा है, इससे मालूम होता है कि कर्मफल देनेवाला तथा भोगापवर्ग देनेवाला ब्रह्म ही है ।

धर्मं जैमिनिरत एव । ३-२-३९ ।

अतएव-शास्त्रने स्वर्गकामीके लिये यज्ञकरनेके लिये कहा है इसकारण जैमिनिः-जैमिनि आचार्य्य धर्मम्-धर्मको फलदाता मानते हैं ।

जिसतरह खेती आदि साक्षात् अथवा परंपरासे फल देनेवाली होती हैं, इस तरह यज्ञादिक साक्षात् फल न देकर भी अपूर्व याने धर्मको उत्पन्न करके धर्मके द्वारा फल देते हैं, ऐसा जैमिनि यानी कर्मकाण्डके उपासक पूर्वमीमांसक मानते हैं । इनके यहां अपूर्व ही फल देनेवाला है ।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् । ३-२-४० ।

बादरायणः-बादरायण आचार्य्य तु-तो पूर्वम्-पूर्व कहे हुए परमात्माको ही कर्मफल देनेका हेतु मानते हैं, क्योंकि हेतुव्यपदेशात्-ऋ०य०वेदमें देवताकी यज्ञमें देवताको फल देनेवाला कहा है, ऋ०य०वेद तथा श्रुतियोंमें यज्ञाराध्य देवताको कर्मफलका दाता कहा है इस कारण परमात्मा ही फलका देनेवाला है । (फलाधिकरणं समाप्तम्)

इति पं०माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्। ३-३-१।

चोदनाद्यविशेषात्—उपासीत-उपासना करो यह प्रेरणा तथा कर्मकाण्डमें शाखान्तरमें कहे गये संयोग, इनका सब शाखाओंमें एकसा होनेके कारण सर्ववेदान्तप्रत्ययम्—सब वेदान्तोंमें एक ही विद्याकी प्रतीति होती है।

सब शाखाओंमें कही गयी वैश्वानर विद्या जुदी २ नहीं एक ही है और उनका फल ब्रह्मकी प्राप्ति भी एक ही है। सब वेदान्तोंमें एक ब्रह्मकी ही उपासना है,क्योंकि सबमें ब्रह्मकी ही उपासना का विधान है।

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि। ३-३-२।

भेदात्—विधेयके भेद होनेसे न—सब शाखाओंमें एक विद्या नहीं है इति—ऐसा कहो चेत्—तो न—नहीं कह सकते, कारण कि एकस्यामपि—एक विद्यामें भी अधिकारीके भेदसे पुनः श्रुति देखी जाती है।

कहीं ज्यादा तथा कहीं कम और कहीं कहीं प्रतिपादनकी शैलीमें भेद होनेके कारण विद्या भिन्न २ हैं ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि एक ही विद्यामें कहने सुननेवालोंके भेदसे भेद देखा जाता है।

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः। ३-३-३।

च—और स्वाध्यायस्य—स्वाध्यायको तथात्वे—शिरोव्रतके संस्कारकी सिद्धिके लिये हि—ही सववत्—सब होमकी तरह तन्नियमः—शिरोव्रतका नियम है च—और इस शिरोव्रतका समाचारे—समाचार-नामक ग्रन्थमें अधिकारात्—वेदव्रतके रूपमें अधिकार है।

मु० ३-२-१०में यह कहा गया है कि, जिन्होंने श्रद्धाके साथ शिरोव्रत यानी शिरपर वैध अग्नि धारणरूप व्रत पूरा किया हो उन्हींको इस विद्याको कहे यह सबके लिये नियम नहीं है, किन्तु आथर्वणिकोंकी इसी मुण्डक शाखावालोंके लिये है। यह शिरोव्रत समाचारनामक ग्रन्थमें है, यह वेद पढ़तीवार इस शाखावालोंको करना पड़ता है दूसरोंको नहीं, सववत् इनके यहां एक ऋषिसंज्ञक एक अग्नि प्रसिद्ध है, उसमें ही उसमें सप्तसूर्य्यसे लेकर शतोदन तक होते हैं दूसरीमें नहीं।

दर्शयति च। ३-३-४।

च—और सब वेदान्तोंमें एक ही विद्या है, यह दर्शयति—श्रुति स्वयं ही दिखाती हैं।

छा० में दहर विद्यामें कहा गया है कि, हृदयमें जो है उसकी खोज करनी चाहिये फिर प्रश्न करके उसके उत्तर देते हुए कहते हैं कि, उसमें सत्यकाम सत्यसंकल्पादि गुणवाला आत्मा है उसकी उपासना करनी चाहिये। तै०में कहा है कि हृदयगगनमें जो है वह उपासनीय है यह भी उसी दहरकी उपासना कही गयी है, एक उपासना सब वेदान्तोंमें एकसी ही है।

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च । ३-३-५ ।

च--और समाने--एकसे उपासनमें अर्थाभेदात्--अभिन्न प्रयोजन होनेके कारण विधिशेषवत्--विधिके अंगभूत अग्निहोत्रादि कर्मोंकी तरह उपसंहारः--दूसरे वेदान्तमें कहे हुए गुण वहां आजाते हैं।

वैश्वानर आदिकी उपासनामें एक वेदान्तमें जो विद्याके सम्बन्धी गुण कहे गये हैं वे दूसरे वेदान्तमें भी उसी उपासनामें समझने चाहिये, यही कर्मकाण्डमें भी होता है। (सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणं समाप्तम्)

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् । ३-३-६ ।

शब्दात्--छा० १-२ की पहिली श्रुतिसे लेकर १४ तक देव और असुरके संवादपूर्वक उद्गीथके अवयव ओंकारमें मुख्यप्राणदृष्टि करके उपासना कही गयी तथा उसके फल कहे गये हैं।

बृ० १-३ में भी यह उपासना कही गयी है, पर इन दोनोंमें इतना अन्तर है कि इसमें उद्गानके करनेवालेमें प्राणदृष्टिसे असुर पराभव कह कर उद्गानके कर्तामें प्राणदृष्टि मालूम होती है और छान्दोग्यमें उद्गानके कर्म उद्गीथमें प्राणदृष्टिकरके असुरपराभव कहा है, इसतरह एकमें कर्ममें प्राणदृष्टि, एकमें कर्तामें प्राण दृष्टि होनेके कारण अन्यथात्वम्--छान्दोग्य और बृहदारण्यकी ये दोनों उपासना भिन्न २ हैं, इसीतरह सब वेदान्तोंकी उपासना जुदी जुदी हैं इति--ऐसा कहो चेत्--तो न--नहीं कह सकते,कारण कि अविशेषात्--दोनों जगह एकसा उद्गीथ साधनसे परपरिभव देखा जाता है।

शब्दसे मालूम होता है कि छा० बृ० की उद्गीथ उपासना भिन्न है, ऐसा तो नहीं कह सकते, क्योंकि असुरपराभव दोनोंमें एकसा है।

नवा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् । ३-३-७ ।

प्रकरणभेदात्--छा० में उद्गीथके अवयव प्रणवकी उपासना कही है। तथा बृ० में संपूर्ण उद्गीथकी ही उपासना कही है। इसकारण इन दोनोंमें प्रकरण भेद है, प्रकरणभेदसे विधेय पदार्थका भेद होता है, उसके भेदसे दोनोंके रूपका भेद होता है, अतः प्रकरणभेदसे नवा--ये दोनों एक नहीं, परोवरीयस्त्वादिवत्--छा० १-९-२ में सबसे उत्कृष्ट तथा श्रेष्ठोंका भी श्रेष्ठ इस गुणसे युक्त उद्गीथकी उपासना कही है तथा छा० १-६ में तेजोमयपनके गुणसे युक्त उद्गीथकी उपासना कही है। पहिली उपासनासे एक ही शाखामें दूसरी उपासना भिन्न है, तब भिन्न शाखाकी छा० बृ० की उपासना क्यों न भिन्न होगी।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि । ३-३-८ ।

संज्ञातः--दोनोंकी उद्गीथसंज्ञा होनेके कारण तत्--उन दोनोंकी एक विद्या है यह उक्तम्--कहा है ऐसा कहो चेत्--तो तदपि--संज्ञैक्य भी तु--तो विधेयभेदमें अस्ति--है।

नामसे एक हो तो नित्याग्निहोत्र और अयनाग्निहोत्र दोनोंकी अग्निहोत्र संज्ञा है इन दोनोंके विधेयमें भेद है।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् । ३-३-९ ।

च--और व्याप्तेः--छा०के प्रथम प्रपाठकके आरंभमें और उत्तर श्रुतियोंमें भी प्रणव प्रस्तुत है,

तब मध्यगत भी उद्गीथशब्द प्रणवविषय है; यह इस व्याप्तिसे समंजसम्–उपयुक्त निश्चित है ।

छा०–में सब स्थलोंमें उद्गीथसे उद्गीथके अवयव प्रणवकी उपासना कही गयी है पर बृ० में संपूर्ण उद्गीथकी उपासना कही गयी है, पहिलेमें प्रणवमें प्राणदृष्टि की गयी है तथा दूसरेमें उद्गीथके उद्गातामें प्राणदृष्टि की गयी है, इस कारण ये दोनों विद्यायें जुदी जुदी हैं। (अन्यथात्वाधिकरणं समाप्तम्)

सर्वाभेदादन्यत्रेमे । ३–३–१० ।

सर्वाभेदात्–छा०५–१–२ में प्राण तथा उसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ आदि कहा है तथा ऐसे ही बृ०५–५ में कहा गया है। इन दोनोंने एकसा प्रतिपादन किया है परन्तु कौषीतकिने प्राणविद्यामें ज्येष्ठ्य, श्रैष्ठ्य गुणवाला प्राण उपास्य है यह प्रतिपादन करके वसिष्ठत्वादिक गुणोंका प्रतिपादन नहीं किया, पर और सब कुछ एकसा है, इस कारण जिस शाखामें इस विषयमें वशिष्ठादि गुण नहीं कहे गये हैं–अन्यत्र उस जगह इमे–ये गुण उपसंहर्तव्य हैं,उनकी जगह भी ये गुण समझने चाहिये ।

जहां एक विद्यामें भिन्न भिन्न शाखाओंमें प्रतिज्ञात प्रकार एक हो वहां वहां एकमें न कही हुई बात दूसरेमें समझनी चाहिये । (सर्वाभेदाधिकरणं समाप्तम्)

आनन्दादयः प्रधानस्य । ३–३–११ ।

प्रधानस्य–सब उपासनाओंमें प्रधान ब्रह्मको एक होनेसे आनन्दादयः–आनन्दादिक ब्रह्मके गुण सब जगह चाहे कहे हों चाहे न कहे हों, समझ लेने चाहिये ।

जो उपनिषदोंने ब्रह्मके पवित्र कल्याणकारी गुण कहे हैं उन सब गुणोंसे युक्त सब जगह ब्रह्मकी उपासना समझनी चाहिये ।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे । ३–३–१२ ।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः–तै०तस्य प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा–२–५ में कहा है कि उस विज्ञानमय यानी जीवात्मामें अन्तरंग आनन्दमय आत्माका प्रियशिर मोद दक्षिण और प्रमोद उत्तर यानी दाये वाये हाथ हैं, इष्ट वस्तुके संयोगसे होनेवाला सुख शिर तथा आनन्द मध्यकाय तथा ब्रह्म ही ऐसे ब्रह्मके गुणोंकी सब जगह प्राप्ति नहीं है, हि क्योंकि भेदे–शिर और पुच्छ आदि अवयवभेदसे उपचयापचयौ–उपचय और अपचय प्राप्त होंगे । मोक्ष और प्रमोद ये दोनों छोटे बड़े हैं, प्रियशिरस्त्व आदिकी सब जगह प्राप्ति होनेसे ब्रह्ममें छोटाई बड़ाई प्राप्त होगी, इसलिये ये सब जगह नहीं जाते ।

इतरे त्वर्थसामान्यात् । ३–३–१३ ।

इतरे–प्रिय शिर आदिको छोड़कर और गुण तु–तो अर्थसामान्यात्–अर्थसामान्यसे सब जगह अनुवर्तित होते हैं ।

सब विद्याओंमें आनन्दादिक ब्रह्मके गुण अनुवर्तित होते हैं और कारुण्यादिक गुण जहां सुने जायँ वहीं उनका उपसंहार होता है ।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् । ३–३–१४ ।

आध्यानाय–उपासना करनेके लिये प्रियको शिर और मोदको दक्षिण पक्ष तथा प्रमोदको उत्तर पक्ष आदिका उपदेश दिया है सिवा इसके और प्रयोजनाभावात्–दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है ।

आत्मशब्दाच्च । ३-३-१५ ।

च-और तै० २-५ में जो यह कहा है कि, इस विज्ञानसे अन्य इससे भी भीतर आनन्दमय आत्मा है, इस आत्मशब्दात्-आत्मशब्दसे ।

आत्माका पूर्वोक्त प्रकरणमें श्रवण होनेसे भी यही सिद्ध होता है । प्रिय शिर आदिका निरूपण उपासनाके लिये है, क्योंकि आत्माके शिरपुच्छादिक नहीं है, यह केवल सुखसे प्रतिपत्तिके लिये रूपक मात्र है ।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् । ३-३-१६ ।

इतरवत्-ऐतरेय १-१-२में जिस तरह आत्मशब्दसे परमात्माका ग्रहण होता है, उसी तरह आत्माऽऽनन्दमयः यहां भी आत्मशब्दसे आत्मगृहीतिः-परमात्माका ग्रहण होता है, क्योंकि उत्त-रात्-तै० सोऽकामयत२-६ उस आनन्दमय ब्रह्मने चाहा इस उत्तर वाक्यसे यही बोध होता है ।

आनन्दमय आत्माको लेकर कहा गया है कि उसने चाहा कि मैं बहुत हो जाऊँ यह संकल्प परमात्माका है, इस कारण आनन्दमयके साथ जो आत्मा है वह परमात्माका वाचक है ।

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् । ३-३-१७ ।

अन्वयात्-इसी उपनिषदने प्राणादिकोशोंमें भी आत्मशब्दका अन्वय किया है फिर आनन्दमयके साथ अन्वित आत्माशब्दसे कैसे परमात्माका ग्रहण करते हो इति-ऐसा कहो चेत्-तो नहीं कह सकते, स्याद्-क्योंकि ऐसा उत्तर वाक्यसे हो सकता है, कारण कि अवधारणात्-पहिले यह निश्चय कर लिया है कि, इस आत्मासे आकाश हुआ इस तरह परमात्मबुद्धि करके फिर पंचकोश निरूपण करतीवार पहिले अन्नमयकोशसे प्राणमयकोशमें प्रथम परमात्मबुद्धि अवतीर्ण हुई, इसके पीछे प्राण-मयसे मनोमयमें परमात्मबुद्धि पहुंची, उसके पीछे विज्ञानमयमें परमात्म बुद्धि हुई, तत्पश्चात् आन-न्दयमयपर परमात्मबुद्धि पहुंची, आनन्दमयसे अगाड़ी कुछ है नहीं; इसलिये इसीपर प्रतिष्ठित हो गयी । प्रारंभमें भी अपरमात्मामें परमात्मबुद्धि की गयी है । पञ्चकोशविवेक-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय या बुद्धिमय, और आनन्दमय, आनन्दमयमें जिसका प्रतिबिंब है वह आनन्द-मय ब्रह्म है ।

पञ्चीकृत भूतोंका बना हुआ यह स्थूल देह अन्नमय कहलाता है । पञ्च प्राण और कर्मेंद्रियोंका प्राणमयकोश कहलाता है । ज्ञानेन्द्रिय और मनका मनोमयकोश कहलाता है । उन ज्ञानेन्द्रियोंके साथ बुद्धि-विज्ञान-मय-कोश कहाता है। पुण्यकर्मके फलके अनुभवकालमें बुद्धिकी वृत्ति, अन्तः प्रविष्ट हो आनन्दमय परमात्माके प्रतिबिम्बको भजती है वह आनन्दमयकोश कहलाता है। आनन्दमयकोशमें आनन्दमय है इसपर जाकर आत्माकी विश्रांति हो जाती है । यही कारण है कि इस आनन्दमय-को अधिकृत करके अगाड़ी श्रुतिने यह कह दिया है कि, आनन्दमय परमात्माने चाहा कि मैं एक वहुत होजाऊँ । (आनन्दाद्यधिकरणं समाप्तम्)

कार्य्याख्यानादपूर्वम् । ३-३-१८ ।

कार्य्याख्यानात्-जो दूसरेसे नहीं प्राप्त है ऐसे कर्तव्यका आख्यान यानी कथन होनेस अपूर्वम्-अपूर्व विधान है ।

छां०-५-२-२ में कहा है कि प्राणने कहा कि मेरे वस्त्र क्या होंगे ? तव औरोंने कहा कि आपके वस्त्र यह भोजनके प्रारंभ और अन्तके आचमन हैं, इसी कारण भोजन करनेवाले अगाड़ी पिछाड़ी आचमन करते हैं जिससे प्राण नग्न नहीं रहता । बृ० ६-१-१४ में कहा है कि तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते इस कारण वेदवेत्ता भोजनसे पहिले और अन्तमें आचमन करके ऐसा मानते हैं कि, हमने प्राणको वस्त्र दे दिया । यहां आचमनका विधान नहीं, क्योंकि आचमनका तो स्मृति ही विधान कर रही है किन्तु आचमनको प्राणके वस्त्रकी दृष्टिका विधान है । (कार्य्याख्यानाधिकरणं समासम्)

समान एवं चाभेदात् । ३-३-१९ ।

एवम्--वाजसनेयिशाखाके अग्निरहस्यकी शाण्डिल्यविद्यामें मनोमय प्राण शरीर और भारूपपना आदि परमात्माके गुण सुने जाते हैं तथा-बृ० ५-६-१में फिर ये कहे गये हैं, इस तरह दोनोंमें मनोमयत्वादि समाने-वरावर होनेपर च-और अधिक वशित्वादिका सत्यसंकल्पत्वादिके साथ अभेदात्--अभेद होनेसे रूपभेद नहीं है इसलिये दोनों ही विद्या एक हैं ।

वाजसनेयीशाखावालोंके अग्निरहस्यमें कहा गया है कि स० आत्मानमेवोपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम् आत्माकी उपासना करनी चाहिये, यह मनोमय यानी विशुद्ध मनसे ग्रहण करने योग्य, संसारमें सब प्राणियोंका धारण करनेवाला प्राण जिसका शरीर है ऐसा तथा भास्वररूप है ।

इसी तरह बृहदा०-५-६-१ में कहा है कि मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यम् तस्मिन् अन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा-विशुद्ध अन्तःकरणसे ग्रहण करने योग्य, भास्वररूप, निर्विवाद पुरुष है । वह इस हृदयमें व्रीहि यव यानी हृदयाकाशमें उतना ही हुआ बैठा है ।

यहां यह शंका थी कि ये दोनों विद्यायें एक हैं वा भिन्न २ हैं, इसपर सूत्रकार कहते हैं कि दोनों जगह मनोमयत्वादिक गुण समान हैं इसकारण ये दोनों विद्यायें एक हैं । रही वशित्वादिककी बातें, यह एक सत्यसंकल्पत्वका ही विस्तार है इस कारण वशित्व और सत्यसंकल्पत्व भी एक हैं इस कारण यह विद्या एक है । (समानाधिकरणं समासम्)

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि । ३-३-२० ।

एवम्--जिस तरह वाजसनेयी और बृहदारण्य इन दोनोंमें मनोमयादिगुणयुक्त ब्रह्म उपास्य होनेसे एक विद्या समझी गयी है उसी तरह अन्यमें भी उपसंहार जानना, यह जो-बृ०५-५--२ में अधिदैवत और अध्यात्ममें अहम् यह उसका रहस्य है यह कहा है, इसमें सम्बन्धात्-अक्षि और आदित्यसम्बन्धी एक ब्रह्मके सम्बन्धसे अन्यत्रापि-मनोमयादिसे दूसरी जगह यहां भी दोनोंका दोनों जगह उपसंहार होना चाहिये ।

आप एव इदमग्र आसुः ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान् बृ० ५-५-१ में कहा है कि इस व्याकृत जगत्के पहिले पानी ही था, उसने सत्य यानी पंचीकृत पंचभूतात्मक कार्य्यको रचा, उसने सत्यब्रह्म यानी चतुर्मुख, उससे प्रजापति दक्षादि और प्रजापतिसे देवताओंकी सृष्टि हुई । यही कारण है कि देवता सत्यकी उपासना करते हैं । तत् यत्सत्यमसौ स

आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् जो यह आदित्य पुरुष है वही सत्य है, आदित्यमण्डल और दाही आंखमें वही सत्य पुरुष है, यह दोनों ही एक दूसरेके उपकारक होनेसे श्रुतिने कह दिया है कि एक दूसरेमें आदित्य पुरुष रश्मियोंसे तथा चक्षुपुरुष प्राणोंसे जो आदित्य मण्डलमें सत्य है उसका भूः—शिर, भुवः—ये दोनों उसकी बाहु हैं, स्वः—ये दोनों अक्षर उसकी दोनों प्रतिष्ठा हैं। उसका रहस्य अहम् है, इसीतरह दाहीं आँखमें रहनेवाले सत्यपुरुषकी भी ये व्याहृतियां उसीतरह शिर आदि हैं, उसका भी रहस्य अहम् यह है । आपने शाण्डिल्यविद्यामें तो गुणोपसंहार कर लिया पर यहां तो वह एक ही उपनिषदकी, एक ही सत्यब्रह्मकी उपासना है,पहिली अहम् उपनिषद् आधिदैविक और दूसरी शरीरके सम्बन्धी होनेसे अध्यात्म कहाती है । इस तरह दोनोंमें ही अध्यात्म अधिदैव भाव होना चाहिये ।

नवा विशेषात् ।३–३–२१ ।

नवा— यहां यह बात नहीं है, कारण कि विशेषात्—एकमें सूर्य्यमण्डल और दूसरेमें दाहीं आंख; यह स्थानके भेद होनेसे विद्याके एक होनेपर भी गुणोंका उपसंहार नहीं हो सकता ।

दर्शयति च ।३–३–२२ ।

च—और गुणोंका उपसंहार नहीं प्राप्त है इसी कारण तो दर्शयति—छा० १–६–५**तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम** इस श्रुतिने अतिदेश किया है कि, जो इस नेत्रमें रहनेवालेका रूप है वही इस आदित्यमें रहनेवाले पुरुषका रूप है । यदि एकके गुण दूसरेमें कथित होते तो श्रुतिको यह कहनेकी जरूरत नहीं थी, कि जो इसका रूप है वही इसका रूप है तथा जो इसका ऋक्सामगेष्णा है वही उसके हैं इसलिये यहां विद्या एक होनेपर भी गुणोंका उपसंहार नहीं होता । (सम्बन्धाधिकरणं समाप्तम्)

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः । ३–३–२३ ।

च—और तैत्तिरीयकी राणायणीयशाखाके विधिनिषेधशून्यवाक्योंमें जो कहा गया है कि ब्रह्मके आकाशके उत्पन्न करनेवाले पराक्रमविशेष संभृत यानी निर्विघ्न सम्बद्ध हैं, देवोंकी उत्पत्तिसे भी पहिले ब्रह्म ही सब जगह व्यापक है यह कहा गया है । इसीमें शाण्डिल्यविद्या आदिक ब्रह्मविद्या कही हैं, इसमें अब यह प्रश्न उठता है कि इन विद्याओंमें संभृतिव्याप्ति आदि गुणोंका समुच्चय किया जाय वा नहीं इसके लिये यह सूत्र किया गया है कि अतः—पूर्वोक्त अहम्की तरह आयतन विशेषके योगके कारण सम्भृतिद्युव्याप्ति—संभृति याने वीर्योंका निर्विघ्न निबद्धपना तथा स्वर्गादिकमें व्यापक गुण अपि—भी शांडिल्य आदि विद्याओंमें उपसंहृत नहीं होते । (संभृत्यधिकरणं समाप्तम्)

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् । ३–३–२४ ।

च—और इतरेषाम्—एक शाखामें कहे हुए गुणोंका दूसरोंके यहां अनाम्नानात्—न कहे गये जानेके कारण पुरुषविद्यायामपि—तैत्तिरीय और छान्दोग्यकी पुरुषविद्या या पुरुषयज्ञमें भी गुणोंका समुच्चय नहीं होता ।

तै० ६-५२-१ में कहा है कि यजमानका आत्मा यज्ञ है, पत्नी श्रद्धा है, शरीर समिध एवं उर वेदि है, लोम कुशाएँ हैं, वेद शिखा हैं, हृदय यूप है, काम घृत है, मन्यु पशु है, तप अग्नि, तथा दम और दक्षिण उस पशुका शासन करनेवाला है, वाणी होता, प्राण उद्गाता, चक्षु अध्वर्यु तथा मन ब्रह्मा है। इसीतरह छा०-३-१६-१ में कहा है कि यह पुरुषयज्ञ है, इसके २४ वर्ष प्रातःसवन है ४४ वर्ष माध्यन्दिन सवन है ४८ वर्ष तृतीय सवन है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ये दोनों विद्यायें एक हैं वा जुदी २ हैं, इसी प्रश्नको हल करनेके लिये यह सूत्र किया गया है। इस सूत्रसे निश्चय होता है कि ये दोनों विद्यायें जुदी २ हैं, क्योंकि तैत्तिरीयमें दिनके ही प्रातः सायम् और मध्याह्न ये तीनों सवन करे हैं। पर छा०-ने २४-४४-४८ के तीन सवन कहे हैं। तथा यजमानपत्नी आदिकी कल्पना भी छा०-में नहीं की गयी है, इस कारण दोनों विद्यायें परस्पर भिन्न हैं। (पुरुषविद्याधिकरणं समाप्तम्)

वेधाद्यर्थभेदात । ३-३-२५ ।

वेधाद्यर्थभेदात्-वेधादिक अर्थके भेदसे ये विद्यांग नहीं हैं।

अथर्ववेदियोंके उपनिषद्के प्रारम्भमें कहा गया है कि हे देव! मेरे शत्रुके सब अंगोंका विदारण कर दे और विशेष करके हृदयको वींध दे, नाड़ियोंको तोड़ दे, शिरके टुकड़े कर दे। तैत्तिरीयमें कहा गया है कि ऋत बोलूंगा, सत्य बोलूंगा, ऋत बोला, सत्य बोला। वेध और त्रोटन आदिके अर्थको विद्यासे प्रतिकूल होनेसे ये विद्याङ्ग नहीं हैं। (वेधाद्यधिकरणं समाप्तम्)

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् । ३-३-२६ ।

हानौ-छा०। ८-१३-१ तथा मु०३-२-८ में ब्रह्मवेत्ताके सुकृत दुष्कृतकी हानि या नाश कहा है तथा शाट्यायनी-शरीरान्तके वाद दायपुत्र सुकृत प्रेमी तथा दुष्कृत शत्रु लेते हैं ऐसा मानते हैं। कौ० १-४ में कहते हैं उसके सुकृत दुष्कृत नष्ट हो जाते हैं, उसके सज्जन सुकृत तथा दुर्जन दुष्कृतोंको ले लेते हैं। यहां सुकृतदुष्कृतोंकी हानि तथा सज्जन और दुर्जनसे उपादान दोनों ही सुने जाते हैं। जहां दोनों सुने जाते हैं वहां तो कोई झगड़ा ही नहीं है, किन्तु जहां हानिका ही श्रवण है तथा जहां यही है कि सुहृद दुर्हृद उससे पुण्यपापोंको बांट लेते हैं वहां तु-तो उनका समुच्चय अवश्यभावी है क्योंकि वहां उपायनशब्दशेषत्वात्-उपायनवाक्य हानिवाक्यका शेष है वहां उसकी अपेक्षा है। एक स्थलके वाक्य दूसरे स्थलके वाक्योंके शेष होते हैं, अपेक्षित होते हैं, इसके लिये दृष्टान्त देते हैं कि-कुशाच्छन्दस्स्तुत्युपगानवत्-कुशा-कलापशाखावाले कहते हैं कि-हे कुशा! तुम वानस्पत्य हो ऐसी उत्तम तुम मेरी रक्षा करो, कुशशब्द तो पुँल्लिंग और नपुंसकलिङ्गमें वर्तता है, यहां तो स्त्रीलिङ्ग है, यह कुश क्या है? इसपर शाट्यायनिने कहा है कि "औदुम्बर्य्यः कुशाः" इससे निश्चय होता है कि ये उदुम्बरकी शलाका कुशा कहलाती हैं। जहां कलापशाखावालोंने उद्गाताके स्तोत्र गिननेके लिये शलाका ली हैं वहां शाट्यायनिकी श्रुतिके सम्बन्धसे उदुम्बरकी ही ली जा रही हैं। "अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ८-३-४६।" इस सूत्रमें यह स्त्रीलिङ्गनिर्दिष्ट कुशाशब्द शलाकाका वाचक है, लिङ्गानुशासनमें भी साफ लिखा है कि शलाकावाची स्त्रीलिङ्ग है। कलापियोंको उदुम्बरकी शलाकाका बोध करनेमें शाट्या-

यनियोंकी श्रुति अपेक्षित होती है, इसी कारण वह उसका शेष यानी अंग है । छन्द–देवासुरोंके छन्दोंसे स्तुति करता है यहां यह विचार होता है कि कौनसे देवासुर–छन्द इसकी पूर्ति पैङ्गियोंके ब्राह्मणसे होती है कि पूर्वके देवछन्द तथा उत्तरके आसुरछन्द हैं । अतएव यह छन्द निर्णय करनेवाली श्रुति पहिली श्रुतिका अंग है । स्तुति–षोडशीपात्रविशेषके ग्रहणमें उसका अंगभूत स्तोत्रका पाठ कब होना चाहिये, इस समयका निश्चय आर्चश्रुतिसे होता है कि सूर्यके उदयसमयाविष्ट होनेपर होना चाहिये इस कारण यह कालबोधक पहिलीका अंग है उपगान–एक जगह कहा है कि ऋत्विज् उपगान करते हैं, पर दूसरी जगह कहा है कि अध्वर्यु उपगान नहीं करता, तब अध्वर्युको छोड़कर बाकी सब उपगान करते हैं यह निषेध पूर्वविधिका अंग हो जाता है । वत्–इनकी ही तरह तदुक्तम्–हानि जहां हो वहां उपायन और उपायन जहां हो वहां हानि भी साथ समझो यह कहा गया था ।

कौषीतकिमें ब्रह्मवेत्ताके सुकृत दुष्कृतकी हानि तथा सुकृतकी मित्रको एवं दुष्कृतकी शत्रुको प्राप्ति कही गयी है, तब जहां कहीं एक कहा गया हो वहां दोनोंको ही समझ लेना चाहिये । ब्रह्मवेत्ता मरनेके समय पुण्य पापके भागोंको छोड़कर मोक्षको पा जाता है । (हान्यधिकरणं समाप्तम्)

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथाह्यन्ये । ३–३–२७ ।

साम्पराये–देहके परित्यागके समय ही सब सुकृत दुष्कृत नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि मोक्षमें जानेके समय तर्तव्याभावात्–सुकृत दुष्कृतोंके तरनेका भोग तो बाकी रहता नहीं, इस कारण शरीरके छोड़नेके समय ही सबका खातमा हो जाता है । तथाहि–तैसे ही अन्ये और यानी इन्द्र और प्रजापतिके संवादमें प्रजापति कहते हैं कि शरीरके छोड़ देनेपर फिर सुख दुःखकी प्राप्ति नहीं होती, इस कारण सबके सब पाप पुण्योंका ज्ञानी यहीं खातमा करके मोक्षको चला जाता है ।

छन्दत उभयथाऽविरोधात् । ३–३–२८ ।

कौ० १–४ में जो यह कहा है कि विरजा नदीको मनसे पार करके वहां सुकृत दुष्कृतको नष्ट कर देता है तथा छान्दोग्यादिने कहा है कि शरीर त्यागके समय छोड़ देता है यह संगत कैसे होगा? इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं कि–अर्थके स्वभावसे हमने सुकृत दुष्कृतके नाशके कालका निश्चय कर दिया है, इसके कर लेनेपर उभयथा–श्रुति और अर्थस्वभावका अविरोधात्–अविरोध करके छन्दतः–यथेष्ट पदोंका अन्वय करिये ।

अर्थात् कौ० १–४ की श्रुतिके अन्तमें जो यह कहा है कि सुकृत दुष्कृतको छोड़ता वा नष्ट करता है यह पहिले सुकृतदुष्कृते विधुनुते–इस श्रुतिका अर्थ कर लेना चाहिये, पीछे विरजां नदीं तां मनसैवात्येति–इत्यादिकोंका अर्थ करना चाहिये कि–सुकृत दुष्कृतको छोड़ आर्चिरादिमार्गसे मोक्षको गमन करता हुआ क्रमप्राप्त विरजाको मनसे पार कर डालता है, इस तरह कोई विरोध नहीं रहता ।

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः । ३–३–२९ ।

उभयथा–पूर्वपक्षी कहता है कि शरीर छोड़नेके साथ कुछ सुकृत दुष्कृत नष्ट हो जाते हैं और कुछ साथ जाते हैं; तब ही वे विरजाके पार होनेके बाद नष्ट हो जाते हैं, ऐसा होने पर गतेः–देवयानका जाना अर्थवत्त्वम्–सप्रयोजन सिद्ध होता है । अन्यथा–ऐसा न मानोगे कि कुछ देह छोड़नेके साथ और शेष विरजाके पार करतीबार सुकृत दुष्कृत नष्ट होते हैं तो देहके वियोगके ही समय

सब सुकृत दुष्कृतोंके नष्ट होते ही सब कर्मोंके नाश हो जानेपर सूक्ष्म शरीरका भी नाश हो जायगा, फिर आर्चिरादिमार्गसे जायगा कौन हि—यह ही विरोधः—विरोध पड़ेगा।

कुछ यहां देहत्यागके समय नष्ट हो जाते हैं तथा कुछ विरजापर छूटते हैं, ऐसा माननेपर तो गती धर सकते। नहीं तो पाप पुण्यके विना लिंगशरीरके नाश होनेपर आर्चिरादिसे जायगा कौन।

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् । ३-३-३०।

उपपन्नः—पूर्वसूत्रसे पूर्वपक्ष करके उत्तर देते हैं कि—शरीर छोड़कर आर्चिरादिमार्ग जानेके समय ही सब कर्मोंका नाश उपपन्न है ठीक है, क्योंकि तल्लक्षणार्थोपलब्धेः—कर्मक्षय कर लेनेके बाद भी आविर्भूत स्वरूपमुक्त इच्छानुसार देहसे संवन्ध रखनेके कारण विद्याके बलसे कर्मके नष्ट हो जाने-पर भी सूक्ष्मशरीर रहता है और उससे मोक्षको चला जाता है। लोकवत्—जैसे कोई धानोंमें पानी लगानेके लिये बावड़ी बनाकर पीछे धानसे निवृत्त होनेपर भी उसको स्वच्छ रखते हैं। इसीतरह मुक्तपुरुष भी लिंग शरीरको विद्याके बलसे रखे रहते हैं।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् । ३-३-३१।

आधिकारिकाणाम्—जिन ज्ञानियोंके प्रारब्धकर्मका भोग आरम्भ हो गया है उन ज्ञानियोंकी अव-स्थितिः—यहां ही अवस्थिति रहती है, यावदधिकारम्—जबतक कि प्रारब्धकर्मका क्षय नहीं होता।

यह बात नहीं है कि सब ही ज्ञानी शरीर छोड़कर आर्चिरादिमार्गसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु जिनके प्रारब्धकर्म नष्ट हो गये हैं वे मोक्षको चले जाते हैं और जिनके प्रारब्धकर्म अव-शिष्ट हैं उन्हें उनका हरतरह फल भोगना पड़ता है। (साम्परायाधिकरणं समाप्तम्)

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् । ३-३-३२।

अनियमः—यह बात नहीं है कि जिस विद्यामें आर्चिरादिक मार्ग कहे गये हैं वे ही उन मार्गोंसे जायँगे दूसरे नहीं, ऐसा नियम नहीं है किन्तु सर्वेषाम्—सब आत्मवेत्ताओंका वही मार्ग है, इसमें कोई अविरोधः—विरोध भी नहीं है, शब्दानुमानाभ्याम्—यह श्रुतिस्मृतिसे सिद्ध बात है, इसका श्रुति-स्मृतिसे कोई विरोध नहीं है।

यह बात नहीं है कि उपकोशलकी विद्यामें आर्चिरादिक मार्ग कहे हैं इस लिये वही इस मार्गसे जाय, किन्तु ब्रह्मविन्मात्र इसी मार्गसे जाते हैं, इसमें श्रुतिस्मृतिका भी कोई विरोध नहीं है। (अनि-यमाधिकरणं समाप्तम्)

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ।३-३-३३।

अक्षरधियाम्—बृ० ३-८-८में अक्षरब्रह्मको स्थूल आदिका प्रतिषेध किया गया है तथा मु० १-१-६ में अक्षरब्रह्मको दृश्यत्वादिका निषेध किया गया है। और भी जगह अक्षरब्रह्म ऐसे ही विशेषोंके निराकरणपूर्वक सुना जाता है। यहां यह विचार होता है कि, इन जुदे जुदे स्थलोंमें जो अक्षरविष-यक प्रतिषेधबुद्धियां हैं वो जहां जहां अक्षरकी उपासना है वहां वहां उपसंहृत होती हैं वा नहीं, इस विषयमें सूत्रकार उत्तर देते हैं कि—इन अक्षरसम्बन्धी प्रतिषेधबुद्धियोंका तु—तो सामान्यतद्भावा-भ्याम्—सब जगह अक्षर एव ब्रह्म उपास्य, इस कारण तथा उन अस्थूलादिक बुद्धियोंका ब्रह्मके स्वरूप-की प्रतीतिमें अन्तर्भाव होनेसे, अवरोधः—सब अस्थूलादिक बुद्धियोंका अक्षर ब्रह्मकी उपासनामें संग्रह

है। औपसदवत्—औपसदकी तरह यानी जिस तरह उपसद इष्टिमें उद्गाताके प्रयोगकी प्राप्तिमें पुरोडाश अध्वर्युको हीं करना पड़ता है, यह तदुक्तम्—प्रथम काण्ड जै० सू० ३–३–८में कहा गया है।

चाहें अंगी कहीं भी हो, अंग वहीं पहुंच जाता है। जैसे जामदग्न्य चतूरात्रमें सामवेदके पुरोडाश प्रदानके मंत्रोंसे अध्वर्यु ही पुरोडाश करता है उद्गाता नहीं करता। इसी तरह अक्षर ब्रह्मकी उपासनामें सब जगह सब गुण चले जाते हैं।

इयदामननात्। ३–३–३४।

आमननात्—आनन्दादि गुणविशिष्ट ब्रह्मके निदिध्यासनके कारण इयद्—आनन्दादि गुणोंसे युक्त ही ब्रह्मका चिन्तन प्राप्त था।

अस्थूलत्वादिक कथनसे इतर व्यावृत्तिपूर्वक पूर्वोक्त गुणयुक्त ब्रह्मका अनुसंधान किया जाता है, इस कारण इनकी सब जगह अनुवृत्ति करते हैं और तो सब कर्मपना आदि प्रधानके अनुवृत्ति होनेपर भी प्रत्येक विद्यामें व्यवस्थित हैं। (अक्षरध्यधिकरणं समाप्तम्)

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत्। ३–३–३५।

भूतग्रामवत्स्वात्मनः—बृ० ३–४–१–२ में चाक्रायणने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा है, जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर है उसे मुझे कहो। इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि, जो प्राणसे प्राणन एवं व्यानसे व्यानन तथा उदानसे उदानन करता है वह सर्वान्तर आत्मा है यह कहा है। बृ० ३–५–१। २ में कहोलने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा है कि, मुझे साक्षात् अपरोक्ष सर्वान्तर आत्माका उपदेश दो, तब याज्ञवल्क्यजीने कहा है कि जो शोक, मोह, भूख, प्यासको पार कर गया है; जिसे इन्होंने कभीं नहीं सताया वह साक्षात् सर्वान्तर ब्रह्म है। इन दोनों ब्राह्मणोंमें दो प्रश्न करनेवाले तथा दो उत्तर हैं, तो दोनों उत्तरोंके ध्येयका भी फरक होना चाहिये, इस कारण पहिले प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि—पहिले प्रश्नमें भूतग्रामवाले जीवात्माको अन्तरा—सर्वान्तरत्व कहा गया है और दूसरेमें परमात्माको अन्यथा—ऐसा न मानोंगे तो भेदानुपपत्तिः—दोनों उत्तरोंके भेदकी अनुपपत्ति होगी, इति—ऐसा कहो चेत्—तो न—नहीं कह सकते, क्योंकि दोनोंमें परमात्मविषयक प्रश्नोत्तर हैं।

यह जो कहा गया है कि जो प्राणसे प्राणन करता तथा व्यानसे व्यानन करता है यह सुषुप्तिकालमें परमात्मासे ही होते हैं, इस लिये पहिलेमें भी परमात्माको ही सर्वान्तर कहा है, दूसरेमें तो परिस्फुट ही परमात्माका उपदेश है। प्रश्न और प्रतिवचन दोबार तो उपदेशवत्—छा०—में सद्विद्याके प्रकरणमें श्वेतकेतुने कईबार पूछा और कईबार उत्तर दिया गया है, उसी तरह यहां पहिले सर्वान्तर तथा सब प्राणियोंको सुषुप्ति आदिमें प्राणन करना तथा दूसरेमें अशनादिसे अतीतपना कहा है, दोनों ब्राह्मणोंमें एक ही विद्या है।

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्। ३–३–३६।

व्यतिहारः—कहोलको जो अशनादिसे अतीतब्रह्म कहा गया है उसे अपने उपदेशके साथ तथा उषस्तिको सुषुप्तिमूर्च्छामें प्राणन हेतु कहा गया है उसे कहोलको अपने याज्ञवल्क्यके उत्तरके साथ समझना चाहिये। इसीका नाम व्यतिहार है कि एकके साथ दूसरेको समझना। हि—याज्ञवल्क्यके उत्तर ही विशिंषन्ति—दोनोंका आपसमें व्यतिहार कर रहे हैं। इतरवत्—जैसे सद्विद्यामें वारंवारके

प्रश्नोत्तर उसी एक सद्का ही बोध करते हैं अधिकाधिक गुण सहित । ३-४-५ में एक ही विद्या प्रतिपादन की गयी है विद्याभेद नहीं है ।

सैव हि सत्यादयः । ३-३-३७ ।

छान्दोग्यके छठे अध्यायमें श्वेतकेतुको उसके पिताने अनेक तरह समझाया है । यह अध्याय इन्हीं बाप बेटोंके संवादसे पूरा हो गया है । पिताने पुत्रसे कहा है कि पहिले सत् था उस सत्शब्द-वाच्य आत्माने चाहा कि मैं बहुत हो जाऊं तब उसने क्रमसे भूत उत्पन्न किये और जीवात्माके साथ अनुप्रवेश करके नामरूपका व्याकरण किया । यह उपदेश देकर अन्न, तेज और जलके सूक्ष्म, मध्यम और स्थूल भागोंकी देहमें व्यवस्था की है । इसके बाद उस श्वेतकेतुके पिता उद्दालकने उसी सद्का स्वप्नान्त आदिका उपदेश दिया है, उसके अन्तमें तथा उसके अगाड़ी ९ वें, १० वें, ११ वें, १२ वें, १३वें,१४वें१५वें,१६ वें खण्डके अन्तमें यही कहा है कि **स य एषोऽणिमा ऐ-तदात्म्यमिदᳫं सर्वं तत् सत्यᳫं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो**—ये सब उस सद्ब्रह्मके विशेषण हैं और इनमें एक सद्ब्रह्मका ही इन इन विशेषणोंसे उपदेश दिया गया है । सैव हि—वही सद् देव-ता ही तमाम अध्यायमें कही गयीहै । सत्यादयः—और पहिले आठवें खण्डमें कहे गये हीं सत्या-दिक सोलहवें खण्डतक कहे गये हैं । (अन्तरत्वाधिकरणं समाप्तम्)

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः । ३-३-३८ ।

इतरत्र—वाजसनेयीशाखाके बृ० ४-४-२ में च—और तत्र—छान्दोग्यकी दहरविद्यामें कामादि-सत्यकामादियुक्त ब्रह्मकी ही उपासना है क्योंकि आयतनादिभ्यः—दोनोंमें उपास्यके स्थितिकी जगह हृदय तथा विश्वका भलीभांति धारण और अन्योन्य धर्मके सांकर्यभावको रोकना एकसा सुना जाता है ।

छा०८-१-१में हृदयपुण्डरीकमें रहनेवाले दहराकाशको उपास्य कहा तथा ८-१-५में अपहतपाप्मत्वादिक आठ गुण भी कह डाले तथा ८-१-६में कह दिया है कि इन आठों गुणयुक्त दहराकाश उपास्य है तथा और भी अनेक स्थलोंमें इसी अध्यायमें गुणाष्टकविशिष्ट परमात्माकी उपासना कही है । बृ० ४-४-२में तो हृदयाकाशमें सोया हुआ वशिपना आदिगुणोंके सहित उपास्य प्रतीत होता है । इस कारण यहां शंका हुई थी कि इन दोमें जुदी जुदी विद्यायें हैं, इसका उत्तर सूत्रकारने दिया है कि दोनोंमें उपास्यका हृदय आयतन एक कहा है तथा विधारण आदि गुण भी एकसे कहे हैं;इस कारण दोनों उपनिषदोंमें एकसी विद्या है ।

आदरादलोपः । ३-३-३९ ।

आदरात्—यह बात नहीं है कि सत्यकामत्वादिक पारमार्थिक ब्रह्मके गुण नहीं हैं किन्तु मोक्षके लिये उपासना करने योग्य ब्रह्मके गुणरूपमें सत्यकामत्वादिकोंको कहा गया है । तथा छा०८-१-६में कहा गया है कि जो सत्यकामत्वादिविशिष्ट ब्रह्मको विना जाने शरीरको छोड़कर गमन करता है,उसका सब लोकोंमें इच्छानुसार गमन नहीं होता तथा जो इन गुणोंसे युक्त आत्माको जानकर चलता है, उसका सब लोकोंमें इच्छानुसार विहार होता है यह सगुणोपासकका आदर दिखाया है, इसकारण इन गुणोंका अलोपः—लोप नहीं होता किन्तु इनका बृहदारण्यकमें भी इस प्रकरणमें उपसंहार होता है ।

सगुण ब्रह्मकी उपासना होती है, क्योंकि श्रुति सगुणोपासकको स्वेच्छाविहार कररही हैं नेह

नानास्ति किंचन आदि वाक्योंसे प्रपंचाकारपनेका निषेध तथा उससे विलक्षणपनेका प्रतिपादन किया गया है, यह नहीं है कि सगुणका प्रतिषेध किया गया हो। (कामाद्यधिकरणं समाप्तम्)।

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्। ३-३-४०।

उपस्थिते-ब्रह्मके संनिकट प्राप्त होनेपर अतः-ब्रह्मसान्निध्यकी प्राप्तिसे तद्वचनात्-सर्वत्र स्वेच्छाचार इसी वचनसे सिद्ध होता है।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्। ३-३-४१।

तन्निर्धारणानियमः-कर्मोंमें उद्गीथ आदिकी उपासनाका यह नियम नहीं है कि उसे करना ही चाहिये, क्योंकि तद्दृष्टेः-यह बात छा० १-१-१०में देखी जाती है कि दोनों कर्म करते हैं जो जानता है वह भी करता है, जो इस प्रकार नहीं जानता वह भी करता है, यहां यह नियम नहीं रखा है कि उपासना जाननेवाले ही करते हैं हि-यह निश्चयके साथ कहा जाता है कि उपासनाका पृथक्-जुदा-कर्मको वीर्य्यवत्तरत्व यानी अप्रतिबन्धः-किसी दूसरेसे प्रतिबन्ध न होने देना ही फलम्-फल है।

कर्मांगके आश्रित उपासनाओंका जुदा अप्रतिबन्ध फल है, इसलिये उनका नियम नहीं है कि कर्ममें अवश्य पर्णमयी जुहूकी तरह अवश्य कर्तव्य हो (तन्निर्धारणानियमाधिकरणं समाप्तम्)

प्रदानवदेव तदुक्तम्। ३-३-४२।

प्रदानवत्-जिस तरह इन्द्रराज्यके लिये एकादश कपाल पुरोडाशका निर्वपन करे, यह कहकर फिर कहा है कि, अधिराज इन्द्रके लिये एकादशका निर्वपन करे और इसे कहकर फिर कहा है कि स्वराट् इन्द्रके लिये एकादशका निर्वपन करे यहां इन्द्र एक ही हैं पर तत्तद्गुणविशिष्टके लिये तीन पुरोडाश दिये जाते हैं, इस प्रदानकी तरह एव-ही तद्--पहिले ८-१-१में केवल दहराकाश ब्रह्मकी उपासना कहकर पीछे ८-१-६ में कहा है कि, जो इस दहराकाश आत्माको एवं इन सत्यकाम आदि गुणोंको बिना जाने जाते हैं उनका सब लोकोंमें स्वेच्छाविहार नहीं होता, एवं जो उस आत्मा और सत्यकामत्वादि गुणोंको जानकर जाते हैं उनका सब लोकोंमें इच्छाविहार होता है। यहां दूसरी बार सत्यकामत्वादि गुणोंके साथ उसकी तद्गुणविशिष्टतासे फिर उपासना करनी चाहिये, यह उक्तम्-कह दिया है। (प्रदानाधिकरणं समाप्तम्)

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि। ३-३-४३।

लिङ्गभूयस्त्वात्-चिह्नभूत वाक्य बहुत हैं कि, नारायण ही सब जगह उपास्य है। तद्धि बलीयः-प्रकरणसे चिह्न ही बलवान् होता है, तदपि-यह भी पहिले अध्यायमें मीमांसासूत्रमें कहा गया है।

तैत्तिरीयमें दहरके बाद "नारायणं देवम्" इत्यादि कहा गया है यह दहरविद्याके उपास्यविशेषका निर्धारण नहीं, किन्तु परब्रह्म परं ज्योति परतत्त्व आदि शब्दोंसे कहे हुए उपास्यवस्तुका इन्हीं शब्दोंसे अनुवाद करके उसे नारायणपनेका विधान किया गया है, सब विद्याओंमें नारायण ही एक उपास्य है। (लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणं समाप्तम्)

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रिया मानसवत्। ३-३-४४।

वाजसनेयी शाखावालोंके अग्निरहस्यमें कहा गया है कि, यह संसार तथा सद् असद् कुछ नहीं था; उसके बाद क्रमप्राप्त मन हुआ, मनके पुरुषकी आयुके ३६००० दिनरूपी इष्टकायुत अपनी पूज्य अग्नियोंको देखा, इसी तरह और और इंद्रियोंने भी अपने २ सम्बन्धकी अग्नियोंको देखा, इसमें यह सन्देह था कि यह विद्यारूप हैं या क्रियारूप हैं, इसपर सूत्रकार कहते हैं कि-

पूर्वविकल्पः-पहिले यह जो कहा है कि इष्टकाओंसे अग्निका चयन करता है; उसीका यहां संकल्पमयपनेको भेदका उपदेश किया है। प्रकरणात्—इस प्रकरणसे मनश्चितादिक अग्नि भी क्रियारूप ही स्यात्—होंगी वा हैं मानसवत्—मानसग्रहकी तरह।

मानसग्रहमें मनसे ही अपने अपने सब काम ऋत्विजादिक करते हैं, पर यह क्रियारूप होत है इसीतरह मनसे अग्नि आदिकी भी तत्संबन्धीपनेकी कल्पना भी क्रियारूप हैं।

अतिदेशाच्च । ३--३--४५ ।

च—और अतिदेशात्—यह जो कहा है छत्तीस हजार अग्नि पूजनीय हैं। उनमें हर एक अग्नि ऐसी है जैसी पूर्वकी यह इष्टकाचित अग्निका अतिदेश मनश्चित आदिमें किया है,इससे मालूम होता है कि ये क्रियारूप हैं विद्यारूप नहीं।

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च । ३-३-४६ ।

तु—मनश्चितादिक अग्नि तो विद्या—विद्यारूप या विद्यारूपयज्ञसे सम्बन्ध रखनेवाली एव—ही है। यहः निर्धारणात्—निर्धारणसे यानी यह जो कहा है वे ये अग्निविद्यासे चयन की जाती हैं, विद्यासे चयनका निर्धारण करनेसे च—और दर्शनात्—और यह जो कहा है कि मनसे ही सब कुछ होता है इससे भी यही दीखता है कि विद्यारूप हैं।

पूर्व मनोमयचयन आदिक विद्यारूप यज्ञके अंग हैं नकि क्रियारूपके, क्योंकि इससे सब क्रियायें मनमें मनसे ही की जा रही हैं।

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः । ३—३—४७ ।

च—और श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्—प्रकरणसे श्रुति, लिङ्ग और वाक्यको, बलवान् होनेके कारण बाधः—बाध न—नहीं होता।

ते ह एते विद्याचित एव—ये अग्निविद्यासे चयन की जाती हैं यह श्रुति हैं, तान् ह एतान् एवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते—सोते हुए भी विद्यामय ऋतुमान्के लिये सब भूत अग्निचयन किया करते हैं यह लिंग भी मौजूद है,इस प्रकार जाननेवाले विद्यासे ही चित होते हैं यह वाक्य भी उपस्थित है, ये तीन कारण मनश्चितादिको विद्यामय ऋतुके अंग कहनेके हैं।

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् । ३—३—४८ ।

अनुबन्धादिभ्यः—यज्ञके सब उपकरणोंको मनोमय होनेके कारण तथा पहिले तीन श्रुत्यादिक कारणोंसे मनश्चितादि क्रिया मनसे भिन्न हैं प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्—जैसे क्रियामय क्रतुसे दहरविद्यादि भिन्न है च—और दृष्टः—अनुवादस्वरूपोंमें विधिकी कल्पना देखी जाती है। तदुक्तम्—यह बात पूर्वमीमांसामें भी कही गयी है।

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः । ३—३—४९ ।

३—३—४५के "अतिदेशाच्च" सूत्रसे जो पूर्वपक्ष किया था उसका खण्डन करते हैं कि—सामान्यात्—कुछ थोड़ेसे सामान्यसे अपि—भी अतिदेशकी उपलब्धेः—उपलब्धि होनेसे न—पूर्व कहे हुए अतिदेशसे भी मनश्चित आदिक क्रियारूप नहीं है अतिदेश कुछ ही सामान्यको लेकर हो जाता है। मृत्युवत्—जिस तरह संहर्तृत्व सामान्यको लेकर आदित्यमण्डलमें रहनेवाले पुरुषको मृत्यु कह दिया है। उस पुरुषको लोकापत्तिः—मृत्युलोककी प्राप्ति नहि—नहीं है।

किसी भी सामान्यको लेकर अतिदेश हो जाता है यह कोई बात नहीं है कि जिसका अतिदेश हो उसकी तमाम बातें ही मिलनी चाहिये ।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः । ३–३–५० ।

च–और परेण–इससे अगाड़ीके ब्राह्मणसे भी प्रतीत होता है शब्दस्य–कि" मनश्चितादिका विधान करनेवाले शब्दोंको ताद्विध्यम्–विद्यामयका प्रतिपादकत्वका अनुगम होता है । भूयस्त्वात्–मनश्चितादिकोंमें सम्पादन करनेलायक अग्निके अंगोंको अधिक होनेके कारण तु–तो अनुबन्धः–उसके समीपमें ही इनका अनुबन्ध किया गया है । (पूर्वविकल्पाधिकरणं समाप्तम्)

एक आत्मनः शरीरे भावात् । ३–३–५१ ।

एके–एक आचार्य्य शरीरे–शरीरमें संस्थित आत्मनः–आत्माको भावात्–ज्ञातृत्वादिरूपका भाव होनेसे ।

जीवात्माका अनुसन्धान ज्ञातृत्वादिरूपसे करना चाहिये, क्योंकि शरीरमें संस्थित आत्मामें ये बातें देखी जाती हैं । विना आत्माके शरीरमें ये बातें नहीं रहतीं । यह मीमांसकोंकी ओर सूत्रकारका लक्ष्य है कि ये ऐसा मानते हैं ।

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत् । ३–३–५२ ।

व्यतिरेकः–संसारीदशासे जो मोक्षदशामें व्यतिरेक है अर्थात् जो अपहतपाप्मत्वादिक व्यतिरेक दिखाया है उसीका अनुसन्धान करना चाहिये, तु न–संसारदशाके जीवके स्वरूपका अनुसन्धान तो न करना चाहिये । तद्भावभावित्वात्–क्योंकि जैसी उपासना की जाती है यहांसे जाकर वैसा ही हो जाता है, उपलब्धिवत्–जैसे ब्रह्मोपलब्धि कही गयी है वैसी ही आत्मोपलब्धि भी है ।

जीव परमात्माका शरीर है इसलिये इसके स्वरूपका चिन्तन करना भी आवश्यक है । पर जैसा ब्रह्मके स्वरूपका चिन्तन किया जाता है वैसा ही चिन्तन होना चाहिये । जो संसारदशामें उसका ज्ञातृत्व, कर्तृत्वादिकरूप है उस दशासे चिन्तन न करना चाहिये । (शरीरेभावाधिकरणं समाप्तम्)

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् । ३–३–५३ ।

अङ्गावबद्धाः–उद्गीथ आदि अंगोंसे बधी हुई उपासनाएँ तु–तो शाखासु–उन उन शाखाओंमें न–नहीं, किन्तु प्रतिवेदम्–सब शाखाओंमें उनकी उपासना की जाती है, हि–इसमें श्रुति ही प्रमाण है ।

जो उपासना जिस शाखामें कही गयी है वह उपासना सब शाखाओंमें की जा सकती है ।

मन्त्रादिवद्वा अविरोधः । ३–३–५४ ।

वा–अथवा मन्त्रादिवत्–अन्यशाखामें कहे हुए मंत्र, कर्म और गुणकी तरह एकशाखाकी उपासनाका दूसरी शाखामें अविरोधः–कोई विरोध नहीं है । य० १–१६ में शम्याको लोढ़ेपर मारनेका मंत्र है कि कुक्कुटोऽसि मधुजित् हे शम्यारूप आयुध–आप असुरोंके लिये कठोरभाषी होते हुए भी हमारे लिये मधुभाषी हो ।

यह जिन शाखाओंमें नहीं कहा गया उनके भी विनियोगमें देखा जाता है ऐसे और भी अनेक मंत्र हैं । इसी तरह एक शाखामें कहा हुआ कर्म दूसरी शाखामें देखा जाता है, उदाहरणके लिये

लीजिये, मैत्रायणीशाखामें जो अयाज आदि नहीं कहे गये हैं पर उनका संग्रह तो देखा हीं जाता है ।

यजुर्वेदियोंने अग्निष्टोमसंबन्धी पशुके आलंभनके लिये कहा है पर छागका ग्रहण होता है, यहां गुणका प्रेषमंत्रोंसे संग्रह देखा गया है । इसीतरह जाति, संख्या, सादृश्य, द्रव्य आदि भी एक शाखाकी दूसरी शाखामें ग्रहण होता है । इसीतरह एक शाखाकी उपासना भी दूसरी शाखाओंमें होती है। (अङ्गावबद्धाधिकरणं समाप्तम्)

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति । ३-३-५५ ।

भूम्नः-वैश्वानरविद्यामें जो प्रादेशमात्रकी उपासना कही है उस प्रादेशमात्रको ज्यायस्त्वम्-प्रामाणिकपना है, क्रतुवत्-यज्ञकी तरह तथा-तैसे हि-ही दर्शयति-श्रुति दिखाती है ।

औपमन्यव, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल, आरुणी ये छओं मिलकर कैकेयके पास वैश्वानर आत्माका उपदेश लेनेके लिये पहुँचे हैं और जिस जिस अंगकी उपासना करते थे, वैश्वानर मानकर वह भी कह सुनाया, तब कैकेयने उनका फल बताये हुए समस्तकी उपासनाका प्रतिपादन किया और केवल अङ्गमात्रकी उपासनासे होनेवाली हानिको बताकर मूर्धापतन आदिके भयसे समस्तकी उपासनाकी पूर्ण उपयोगिता प्रतिपादन की है । (भूमज्यायस्त्वाधिकरणं समाप्तम्)

नाना शब्दादिभेदात् । ३-३-५६ ।

नाना-सद्, भूमा, दहर आदि विद्यायें वेद्यब्रह्मके एक होनेपर भी आपसमें भिन्न भिन्न हैं,क्योंकि शब्दादिभेदात्-शब्दादिके भेदसे ।

जै० २-२-१ में शब्दभेदको कर्मके भेदका हेतु माना है तथा संयोगरूप और समाख्या भी पूर्वोक्त भेदमें हेतु हैं, वेद्य एक ब्रह्म है पर तो भी परविद्या परस्पर विलक्षण है अतएव भिन्न है । (शब्दादिभेदाधिकरणं समाप्तम्)

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् । ३-३-५७ ।

अविशिष्टफलत्वात्-सब विद्याओंका फल एक ब्रह्मकी प्राप्ति है, इस कारण विकल्पः-जो जिस उपासनाको कर रहा है वही उसके लिये परिपक्व होनेपर उसीसे उसे ब्रह्मप्राप्ति हो जाती है, उसे समुच्चय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, कि वह सबको ही करे ।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ।३-३-५८।

काम्याः-स्वर्गादिककी इच्छासे किये हुए दर्शपौर्णमास आदिक तु-तो यथाकामम्-अपनी इच्छाके अनुसार समुच्चीयेरन्-समुच्चय कर लिये जायँ नवा-अथवा न समुच्चय किये जायँ, यह समुच्चय करनेवालेकी इच्छापर निर्भर है, क्योंकि पूर्वहेत्वभावात्-ये यज्ञ परिमित फलके देनेवाले हैं अपरिमित फलके देनेवाले नहीं हैं ।

मोक्षफलके देनेवाली एक ही उपासना काफी है जिनके परिहित फल हैं,जिस जिस फलकी जरूरत हो उस उस फलके लिये इच्छा हो करो न इच्छा हो न करो । (विकल्पाधिकरणं समाप्तम्)

अङ्गेषु यथाश्रयभावः । ३-३-५९ ।

अंगेषु-उद्गीथ आदि यज्ञके अंगोंमें जो ॐकारकी उपासनाआदि विद्या है उनका यथाश्रयभावः-जैसे आश्रयत्वेन यज्ञके साथ नियमानुसार सम्बन्ध है, उसी तरह उपासनाओंका भी ग्रहण होना चाहिये ।

शिष्टेश्च । ३-३-६० ।

च-और शिष्टेः-उद्गीथादिके अंगरूपसे उन उपासनाओंका अनुशासन होनेके कारण नियमपूर्वक उनका उपादान करना चाहिये ।

समाहारात् । ३-३-६१ ।

छा०-१-५-५ में उपासनाका समाहार दीखता है, इस कारण नियमपूर्वक उपासना होनी चाहिये ।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च । ३-३-६२ ।

च-और गुणसाधारण्यश्रुतेः-उपासनाके गुण और उपासनाश्रय ओंकारको तीनों वेदोंमें साधारण्य सुना जाता है, इस कारण पूर्वोक्त नियमसे ही उपासना होनी चाहिये ।

नवा तत्सहभावाश्रुतेः । ३-३-६३ ।

नवा-यह बात नहीं है कि यज्ञमें उद्गीथादिक उपासनाओंका उद्गीथकी तरह अंगभाव हो, क्योंकि तत्सहभावाश्रुतेः-उद्गीथादिक उपासनाएँ उद्गीथ आदिका अंग हैं यह नहीं सुना जाता ।

उद्गीथ आदि उपासना यज्ञमें उद्गीथकी तरह नियमसे उपादेय नहीं हैं, क्योंकि श्रुति ऐसा नहीं कहती ।

दर्शनाच्च । ३-३-६४ ।

च-और दर्शनात्-श्रुति अनियमको दिखाती भी है ।

छा०४-१७-१०में कहा गया है कि इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा यजमान और ऋत्विज सबकी रक्षा करता है, इस कथनसे परिस्फुट प्रतीत होता है कि उद्गाता आदिके जाननेका कोई नियम नहीं है । (यथाऽऽश्रयभावाधिकरणं समाप्तम्)

इति पं० माधवाचार्यविरचितायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः । ३-४-१ ।

अतः-इस ब्रह्मविद्यासे पुरुषार्थः-परम पुरुषार्थ होता है, शब्दात्-तै०उ०२-१-१ में विद्यासे ही पुरुषार्थ कहा है । इति-ऐसा बादरायणः-बादरायण आचार्य्य मानते हैं ।

ब्रह्मविद्यासे मोक्षकी सिद्धि होती है ऐसा बादरायण आचार्य्य मानते हैं ।

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः । ३-४-२ ।

शेषत्वात्-आत्मज्ञान कर्ताके आत्माका संस्कारक होनेसे यज्ञका उपकारक होनेके कारण, पुरुषार्थवादः-विद्यासे पुरुषार्थवाद है वह अर्थवादमात्र है । यथा-जैसे अन्येषु-कर्मकाण्डमें द्रव्यसंस्कार कर्मोंमें फलश्रुति अर्थवादमात्र है । इति-ऐसा जैमिनिः-जैमिनि आचार्य्य मानते हैं ।

आचारदर्शनात् । ३-४-३ ।

अश्वपति सरीखे आत्मज्ञानी भी यज्ञादिक कर्म करते देखे जाते हैं।

ज्ञानियोंका आचार भी प्रधानरूपसे यज्ञादिककर्मोंमें देखा जाता है । मीमांसक जैमिनि आत्मविद्याको यज्ञकर्ताकी आत्माका संस्कार करनेवाला होनेके कारण यज्ञका उपकारक होनेसे उसका फल कहा जाता है, वह भी एक अर्थवादमात्र ही है, पुरुषार्थकी सिद्धि कर्मसे होती है ।

तच्छ्रुतेः। ३-४-४ ।

छा० १-१-१०की श्रुति विद्याको स्वयं ही कर्माङ्ग कहती है । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति जो कर्म विद्या श्रद्धा और उपनिषद्पूर्वक किया जाता है वह अत्यन्त बलवान् होता है, यहां विद्याको साक्षाद् कर्माङ्ग कह दिया है ।

समन्वारम्भणात् । ३-४-५ ।

समन्वारम्भणसे अर्थात् बृ० ४-४-२ में कहा है कि, तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते । उत्क्रमण करनेवाले जीवके पीछे विद्या और कर्मकी वासना चलती हैं, यहां विद्या और कर्मका साहित्य देखा जाता है, पूर्वोक्त व्यवस्थाके अनुसार विद्याको कर्मांगपना हुए विना नहीं हो सकता ।

तद्वतो विधानात् । ३-४-६ ।

तद्वतः-विद्यावालेके लिये छा०८-१५-१ में कर्मका विधानात्-विधान होनेसे ।

छा० ८-१५-१ में कहा है कि गुरुकी सेवासे जो काल बाकी बच जाय उसमें आचार्य्यकुलसे विधिके अनुसार वेद पढ़कर गुरुकुलसे निवृत्त हो घर आ नित्यकर्म करता हुआ पुत्रादिकोंको धार्मिक कार्योंमें लगाकर विषयोंसे इंद्रियोंको रोककर हिंसा न करता हुआ जन ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है । यहां पढ़े लिखे विद्यावालेके लिये कर्मका विधान किया है ।

नियमात् । ३-४-७ ।

ई०-२ के मन्त्रमें यह नियम कर दिया है कि, जबतक जिन्दा रहे तबतक कर्म ही करता रहे ।

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् । ३-४-८ ।

अधिकोपदेशात्-यज्ञादिक कर्मोंके कर्ता जो जीव उससे अधिकका वेदान्तमें उपदेश होनेसे तु-तो वेदान्त उस कर्ता, भोक्ताके संस्कारक होकर कर्माङ्ग नहीं परब्रह्मके बोधक हैं । बादरायणस्य-व्यासदेवका मत भी एवम्-इसी प्रकार है कि विद्यासे परमपुरुषार्थकी सिद्धि होती है । तद्दर्शनात्-वेदान्तवाक्योंमें ऐसा ही देखा जाता है ।

तुल्यं तु दर्शनम् । ३-४-९ ।

तु-विद्याके कर्मांग न होनेमें भी दर्शनम्-दर्शन श्रुतिप्रमाण तुल्यम्-बराबर है ।

छान्दोग्य आदिके विद्याको कर्माङ्ग बनानेवाले श्रुतिप्रमाणोंकी तरह कौ० बृ० छा० आदिकी वेदान्तियोंको कर्मत्याग बोधन करनेवाली भी श्रुति बहुत हैं ।

असार्वत्रिकी । ३-४-१० ।

छा० १-१-१० की श्रुति उद्गीथ विषयक है, सब विषयोंके लिये नहीं है, इसलिये वह नियम उद्गीथ उपासनाका है ।

विभागः शतवत् । ३--४--११ ।

शतवत्–जिस तरह व्यवहारमें कहते हैं कि रत्न और क्षेत्र दोनोंको दोसौमें ले लो, इस तरह कहनेसे सौके रत्न और सौका क्षेत्र यह दोसौका विभाग होकर बोध होता है, उसी तरह विद्या और कर्म इन दोनोंका भिन्न फल होनेके कारण विद्या अपना फल भुगाने और कर्म अपना फल भुगाने-के लिये जीवके पीछे जाते हैं । यह विद्या और कर्मका विभागः-विभाग है, साहित्य नहीं है ।

अध्ययनमात्रवतः । ३–४–१२ ।

३–४–६ में जो कहा गया है कि, विद्यावालेको कर्मका विधान किया गया है, इसका यह भाव नहीं है कि ब्रह्मज्ञानी होकर समावर्तन करा कर्म करता हुआ वरते, किन्तु वेदोंको पढ़कर सविधि कर्म करे, यह उसका तात्पर्य्य है ।

नाविशेषात् । ३–४–१३ ।

अविशेषात्–ई०–२ की श्रुति आत्मवेत्ताको जिन्दगीभर कर्म करनेमें लगा देती है इसमें कोई ऐसा विशेष नहीं है, इस कारण न–यह नहीं है कि, आत्मवेत्ता भी सदा ही कर्म करते रहे ।

स्तुतयेऽनुमतिर्वा । ३–४–१४ ।

स्तुतये–पहिली श्रुतिमें कही हुई विद्याकी स्तुतिके लिये वा–ही अनुमतिः–सब कालमें कर्मके अनुष्ठान करनेकी अनुमति है ।

विद्याके माहात्म्यसे कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, इस बातको द्योतन करनेके लिये दूसरी श्रुति की है ।

कामकारेण चैके । ३–४–१५ ।

च–और एके–वाजसनेयी शाखावाले बृ०–४–४–२२ के आधारसे ब्रह्मविद्यानिष्ठको कामका-रेण–इच्छानुसार घरके त्यागको कहते हैं ।

उपमर्दं च । ३–४–१६ ।

च–और ब्रह्मविद्यासे सब कर्मोंका उपमर्दम्–नाश कहा है इस कारण विद्या कर्माङ्ग नहीं है ।

ऊर्द्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि । ३–४–१७ ।

च–और ऊर्ध्वरेतस्सु–जिन आश्रमोंमें वीर्य्यवाहिनी नाडी ऊर्ध्ववाहिनी की जाती है जिससे कि किसी तरह भी च्युति न हो सके उन आश्रमोंमें अग्निहोत्रादिक कर्म न रहनेपर भी ब्रह्मविद्या रहती है शब्दे–वैदिकशब्द छा० २–१३–१, ५–१०–१ तथा मुण्डकादिमें, हि–ही ये ऊर्ध्वरेत आश्रम हैं इस कारण ऊर्ध्वरेत आश्रम वैदिक हैं, अवैदिक नहीं हैं ।

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि । ३–४–१८ ।

जैमिनिः–जैमिनि आचार्य्यने अचोदनात्–ऊर्ध्वरेता आश्रमोंका विधान न होनेके कारण परामर्शम्–पूर्वोक्त श्रुतियोंमें उन आश्रमोंका अनुवाद मात्र किया है हि–कारण कि, श्रुति अपवदति–ऊर्ध्वरेता आश्रमोंका अनुवाद करती है,कि वह देवताओंका वीरहा है जो अग्निहोत्र छोड़ता है या अग्निका उद्वासन करता है ।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः । ३-४-१९ ।

बादरायणः–बादरायण आचार्य्य ऐसा मानते हैं कि साम्यश्रुतेः–गार्हस्थ्यके समान ऊर्ध्वरेता आश्रमोंको उपादेय होनेके कारण अनुष्ठेयम्–ऊर्ध्वरेता आश्रमोंका भी पालन करना चाहिये ।

व्यासदेव ऐसा कहते हैं कि गृहस्थकी तरह ऊर्ध्वरेता आश्रमोंकी भी अवश्य उपासना करनी चाहिये, कारण वे भी गृहस्थके ही समान हैं ।

विधिर्वा धारणवत् । ३-४-२० ।

जिसे जैमिनि महाराज परामर्श कहते थे, वह परामर्श नहीं, किन्तु धारणवत्–जै० सू० ३-४-१५ में महापितृयज्ञके विषयमें, प्रेताग्निहोत्रमें, स्रुच्में प्रक्षिप्त जो हवि उसे आहवनीयके प्रति जिस समय लेते हैं, उस समय उस हविके नीचे समिध धारण कर ले जाय, क्योंकि ऊपर तो समिध देवोंके लिये धारण की जाती है, जिस तरह यहां धारणविधि है, उसकी ही तरह विधिः– " त्रयो धर्मस्कन्धाः– " तीन धर्मके स्कन्ध हैं इत्यादिमें भी ऊर्ध्वरेता आश्रम आदिकी विधि वा–ही है । (पुरुषार्थाधिकरणं समाप्तम्)

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् । ३-४-२१ ।

उपादानात्–उद्गीथगानके ॐ को उद्गीथ कहकर फिर उसे रसोंका रस कहा है, इससे मालूम होता है कि स्तुतिमात्रम्–यह उसकी तारीफ की गयी है दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है, इति–ऐसा कहो चेत्–तो न–नहीं कह सकते,कारण अपूर्वत्वात्–पहिले किसी तरह उद्गीथमें रसोंका रसतमपना सिद्ध नहीं है यह अपूर्व कथन है,इस कारण उद्गीथादिकमें रसतमादिक दृष्टिका विधान किया जाता है ।

भावशब्दाच्च । ३-४-२२ ।

च–और भावशब्दात्–(उपासीत) इस क्रियासे भी मालूम होता है कि, उपासना विधानके लिये रसतमपनेकी श्रुतियां हैं । (स्तुतिमात्राधिकरणं समाप्तम्)

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् । ३-४-२३ ।

पारिप्लवार्थाः–राजा वैवस्वत मनुकी तरह प्रतर्दन और श्वेतकेतु आदिकी कथा भी अश्वमेधमें पारिप्लवपर्वके बीच सुनानेके योग्य है इति–ऐसा कहो चेत्–तो न–नहीं कह सकते, क्योंकि विशेषितत्वात्–प्रयोगमें आख्यानोंको कहते हैं यह कहकर कहा है कि मनु वैवस्वतके जैसे इस विशेष निर्धारणसे दिवोदासि श्वेतकेतु आदिके प्रसंग मनुके ढंगका न होनेके कारण अश्वमेधके पारिप्लव-पर्वके लिये नहीं हो सकते ।

तथा चैकवाक्योपबन्धात् । ३-४-२४ ।

च–और तथा–जहां जहां दिवोदासि एवं श्वेतकेतुके प्रसंग जैसे प्रसंग हैं वहां श्रवण, मनन, निदिध्यासन, बोधक वाक्योंके साथ एकवाक्योपबन्धात्–एकवाक्यताके उपनिबन्ध होनेसे दिवोदास और श्वेतकेतुके प्रसंग जैसे प्रसंग विद्याकी विधिके लिये हैं पारिप्लवके लिये नहीं हैं । (पारिप्लवाधि-करणं समाप्तम्)

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा । ३-४-२५ ।

च–और अतएव–ऊर्ध्वरेता आश्रमी ब्रह्मविद्यासम्बन्धी समझे जाते हैं, इस कारण अग्नीन्धना-द्यनपेक्षा–विद्यामें अग्नि और इन्धनकी अपेक्षा नहीं है ।

ब्रह्मविद्या अग्निहोत्र आदिकी आवश्यकता नहीं समझती परन्तु अपने २ आश्रमके कर्म अवश्य करने चाहिये । (अग्नीन्धनाद्यधिकरणं समाप्तम् ।)

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् । ३--४--२६ ।

च-और कर्मवाले गृहस्थोंमें ब्रह्मविद्या, सर्वापेक्षा-यज्ञआदिक सब कार्य्योंकी अपेक्षा रखती है । क्योंकि यज्ञादिश्रुतेः-बृ०-४-४-२२ में कहा है कि-ऐसे परमात्माको ब्राह्मण, वेदाध्ययनद्वारा यज्ञद्वारा और दानद्वारा तथा तपसे और उपवाससे जानना चाहते हैं, इस श्रुतिमें यज्ञादिकी अपेक्षा श्रुतिने कहा है और ब्रह्मज्ञानमें इन सबका उपयोग होता है । अश्ववत्-जिस तरह घोड़ेकी सवारीमें जीन आदिकी आवश्यकता रहती है । (सर्वापेक्षाधिकरणं समाप्तम्)

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया अवश्यानुष्ठेयत्वात् । ३-४-२७ ।

यद्यपि गृहस्थ करणोंके व्यापारमें प्रवृत्त होता है, तथापि-तो भी तु-तो शमदमाद्युपेतः-शम दम आदिसे युक्त स्यात्-रहे, क्योंकि तदङ्गतया-विद्याके अंग रूपसे तद्विधेः-शमदमादिकोंकी विधि अवश्यानुष्ठेयत्वात्-अवश्य अनुष्ठेय है । ब्रह्मविद्याके शमादिक अंग हैं, इस कारण गृहस्थोंको भी यथासाध्य शमादिककी उपासना करनी चाहिये । (शमदमाद्यधिकरणं समाप्तम्)

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् । ३-४-२८ ।

प्राणात्यये-मरणान्त कष्ट आ जाय च-तब ही सर्वान्नानुमतिः-सबका अन्न खानेकी आज्ञा है,क्योंकि तद्दर्शनात्-उषस्ति चाक्रायण जैसे ब्रह्मविद् भी महावतके जूठे उड़द खाते देखे गये हैं ।

कुरुदेशमें भयंकर अकाल पड़ जानेपर अपनी औरतको साथ लेकर भूखा प्यासा उषस्ति इभ्यग्राममें आया और महावतके जूठ उड़द खाकर प्राण धारण किये । इससे मालूम होता है कि आपत्तिकी भयंकरतामें जिस तरह हो प्राण धारण करे ।

अबाधाच्च । ३-४-२९ ।

च-और यह जो छान्दोग्यमें कहा है कि आहारकी शुद्धि होनेपर सत्त्वकी शुद्धि होती है उससे ध्रुवास्मृति होकर सब गांठ खुल जाती है, यहां आहारकी शुद्धिको ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिमें कारण कहा तो भी अबाधात्-आपत्के समयमें जीवन रखनेके लिये सर्वान्नभोजनमें भी श्रुतिस्मृतिमें कोई बाधा नहीं पहुंचती।

अपि स्मर्य्यते । ३-४-३० ।

अपि-यह बात नहीं है कि उषस्तिके उदाहरणपर ही हम इस निश्चयपर पहुंचे हैं, किन्तु स्मर्य्यते-स्मृति भी ऐसा कहती हैं कि प्राणान्त कष्ट आनेपर जो इधर उधर अन्न यानी अपवित्र खाने पीनेकी चीजें खाता पीता है वह कमलके पत्तेकी तरह पापसे लिप्त नहीं होता ।

वेदान्ती हो चाहे अवेदान्ती हो संकटके समय किसी भी तरह कुछ भी खाकर अपनेको बचा ले, उस समय अखाद्य खान पानका कोई पाप नहीं होता ।

शब्दश्चातोऽकामकारे । ३--४--३१ ।

अतः-सबको सर्वान्नीनपना आपद्के समय है, इस कारण शब्दः-निषेध है कि मैं पापसे संसृष्ट

न हो जाऊँ, इस कारण ब्राह्मण सुरा न पीवे इत्यादि श्रुति च—और स्मृति अकामकारे—इच्छासे करनेके प्रतिषेधक हैं ।

स्वेच्छासे कोई भी निषिद्ध खान पान न करना चाहिये, इसमें भक्ष्याभक्ष्यके निषेधका तात्पर्य्य है आपत्तिके समयका निषेधक नहीं है । (सर्वान्नानुमत्यधिकरणं समाप्तम्)

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि । ३–४–३२ ।

च–और ब्रह्मविद्याकी उत्पत्तिमें सहायक ऐसे कर्म जो आश्रमोंमें भी विहित हैं वे आश्रममें विहितत्वात्—विहित होनेके कारण आश्रमकर्म—आश्रमका कर्म अपि—भी है ।

आश्रमविहित यज्ञादिक कर्मोंको सबको करना चाहिये, चाहे उस आश्रमवाला विद्याका भी हो अथवा न हो ।

सहकारित्वेन च । ३–४–३३ ।

च-और आश्रमके कर्म सहकारित्वेन-विद्याकी उत्पत्तिके द्वारा विद्याके सहकारी होनेके कारण भी अवश्य अनुष्ठेय हैं ।

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् । ३–४–३४ ।

त एव-वे ही यज्ञादिक सर्वथा–ब्रह्मविद्याके लिये और आश्रमके लिये भी हैं, क्योंकि उभयलिङ्गात्—दोनों जगह यज्ञादिशब्दोंसे प्रत्यभिज्ञान करके विनियोग होता है ।

यह बात नहीं है कि विद्याके लिये यज्ञादिक दूसरे और आश्रमके यज्ञादिक कर्म दूसरे हों किन्तु जो यज्ञादिक आश्रमोंमें नियुक्त हैं, वे ही ब्रह्मविद्यामें विनियुक्त होते हैं केवल संकल्प भेद है ।

अनभिभवं च दर्शयति । ३–४–३५ ।

च—और यज्ञादिककर्मोंसे अनभिभवम्—पाप ब्रह्मविद्यामें विघ्न उपस्थित नहीं कर सकते, यह दर्शयति—श्रुति दिखाती है ।

रातदिन नियमानुसार यज्ञादिक कर्मोंके अनुष्ठान करनेपर अन्तःकरणके शुद्ध हो जानेसे रोज २ प्रकर्षको प्राप्त करती हुई ब्रह्मविद्या विकसित हो जाती है । (विहितत्वाधिकरणं समाप्तम्)

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः । ३–४–३६ ।

तद्दृष्टेः—विना आश्रमवाले रैक्य, भीष्म और संवर्त आदिकोंसे भी ब्रह्मविद्या देखी जाती है, इसकारण अन्तरा—आश्रमोंके विना अपि—भी तु—तो ब्रह्मविद्या होती ही है ।

विना आश्रमके पुरुष रैक्य, भीष्म आदि ब्रह्मनिष्ठ देखे जाते हैं, इससे यह निश्चय होता है कि, विना आश्रमके भी ब्रह्मनिष्ठ हो सकते हैं ।

अपि स्मर्य्यते । ३–४–३७ ।

अपि—अनाश्रमियोंको भी जपादिकसे विद्याकी कृपा होती है यह स्मर्य्यते—स्मृति कहती है ।

जपसे ही ब्राह्मण सिद्ध हो सकता है चाहे और कुछ करे या न करे, यह स्मृतियां कहती हैं, इससे मालूम होता है कि अनाश्रमी भी अपने प्रयत्नसे विद्याका अधिकारी हो सकता है ।

विशेषानुग्रहश्च । ३–४–३८ ।

च—और यह बात नहीं है कि, अनाश्रमियोंको हम विद्याधिकारी न्याय स्मृतियोंसे ही सिद्ध

कर रहे हों, किन्तु विशेषानुग्रहः—तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य्य आदि धर्मविशेषोंसे विद्याकी कृपा होती है ।

अनाश्रमी तप, श्रद्धा और ब्रह्मचर्य्य आदि पालन करके विद्याको प्राप्त करते हैं ।

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च । ३-४-३९ ।

च—और अतः—इस अनाश्रमीपनेसे इतरत्—आश्रमीपना तु—तो ज्यायः—बलवान् है, क्योंकि लिंगात्—स्मृतियोंमें ऐसा देखा जाता है ।

स्मृतियोंने कहा है कि अनाश्रमी न रहे, इस कारण अनाश्रमीपनेसे आश्रमीपना अच्छा है यह विदित होता है । (विधुराधिकरणं समाप्तम्)

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात् तद्रूपाभावेभ्यः । ३-४-४० ।

तद्भूतस्य—जो ऊर्ध्वाश्रमी हो जाय उसका तु—तो अतद्भावः—ऊर्ध्वाश्रमीपनेका अभाव न—नहीं हो सकता अर्थात् वह रैक्यादिकी तरह अनाश्रमी नहीं रह सकता, उसे उसी ऊर्ध्वाश्रममें ही रहना चाहिये, क्योंकि तद्रूपाभावेभ्यः—नैष्ठिकोंके वेषभूषा और धर्मोंका विना यावज्जीवनके ऊर्ध्वाश्रमीके दूसरेके लिये अव्यवहार्य्य होनेके कारण, क्योंकि पूर्वोक्त विषयके शास्त्रसे नियमात्—यह नियम होनेसे, जैमिनेः—जैमिनके यहां यानी मीमांसामें अपि—भी यही व्यवस्था है ।

ब्रह्मचारी विद्या समाप्त करके ब्रह्मचर्य्याश्रमको छोड़कर गृहस्थ होता है, उस तरह नैष्ठिकाश्रमी अपने नैष्ठिकाश्रमको कभी छोड़ नहीं सकता, सदा उसे उसका पालन करना चाहिये ।

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् । ३-४-४१ ।

च—और आधिकारिकम्—ब्रह्मचारीको अवकीर्णिव्रत कहा है, वह अपि—भी नैष्ठिकके लिये नहीं है, क्योंकि पतनानुमानात्—प्रच्युत नैष्ठिकादिकोंका स्मृति पतन समझती है । तथा तदयोगात्—नैष्ठिकादिकोंके लिये कोई ऐसा प्रायश्चित्त नहीं बताती, जिससे उनकी शुद्धि हो सके ।

जो अवकीर्णी ब्रह्मचारीके लिये प्रायश्चित्त कहा है उस प्रायश्चित्तके करनेसे पतित ऊर्ध्वाश्रमी शुद्ध नहीं हो सकता, कारण स्मृति उसके लिये कोई प्रायश्चित्त ही नहीं देखती, जिससे वह शुद्ध हो जाय ।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् । ३-४-४२ ।

एके—एक आचार्य्य नैष्ठिकादिकोंके ब्रह्मचर्य्य—प्रच्यवनको उपपूर्वम्—उपपातक अपितु—भी कह कर उसमें भावम्—प्रायश्चित्त मानते हैं, अशनवत्—कि जिसतरह मध्वादि भोजनका प्रायश्चित्त दोनोंको समान होता है उसी तरह अवकीर्णिव्रत भी समान ही है । तदुक्तम्—स्मृतियोंने दोनोंका प्रायश्चित्त भोजन समान कहा है ।

कोई कोई आचार्य्य कहते हैं कि, ऊर्ध्वाश्रमी भी प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो सकते हैं और ब्रह्मचर्य्यके प्रच्यवनमें अवकीर्णीकी तरह इसका प्रायश्चित भी होता है ।

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च । ३-४-४३ ।

उभयथाऽपि—दोनों तरह भी चाहें नैष्ठिकादिकोंकी ब्रह्मचर्य्यसे प्रच्यवन उपपातक हो और चाहे महापातक हो, बहिस्तु—ब्रह्मविद्याके बहिर्भूत तो हैं ही, क्योंकि स्मृतेः—स्मृति उसे ऐसा कहती हैं । च—और आचारात्—शिष्टपुरुषोंका आचार भी ऐसा नहीं देखा, कि ऐसोंका कोई आदर करते हों ।

नैष्ठिकादिक ऊर्ध्वाश्रमियोंके व्यभिचारको चाहे महापाप कहो और चाहे और पापोंकी तरह कह दो परन्तु फिर वह ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं रहता, कि फिर किसीसे उपदेश पा सके। तथा शिष्ट लोग भी ऐसोंका आदर नहीं करते, चाहे वे अपने अवकीर्णिव्रतको विधिके साथ पूरा कर चुके हों। (तद्भूताधिकरणं समाप्तम्)

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः । ३-४-४४ ।

आत्रेयः-आत्रेय आचार्य्य इति-ऐसा मानते हैं कि, कर्माङ्गके आश्रित जो उद्गीथ आदि उनकी उपासना स्वामिनः-यजमानका कृत्य है; क्योंकि फलश्रुतेः-इनमें उपासनाके साथ फल सुना जाता है।

आत्रेय आचार्य्य कहते हैं कि, उद्गीथकी उपासना स्वयं यजमानको करनी है, क्योंकि इनमें उपासनाके साथ फल भी कहा हुआ है।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।३-४-४५ ।

औडुलोमिः-औडुलोमि आचार्य्य इति-ऐसा मानते हैं कि, उद्गीथकी उपासना करना आर्त्विज्यम्-ऋत्विज्का कार्य्य है, तस्मै-उसके लिये हि-ही परिक्रीयते-ऋत्विज् खरीदा जाता है।

यज्ञनिबद्ध उपासना ऋत्विक् करते हैं,दक्षिणा ऋत्विज्की और उसका फल यजमानको मिलता है, जो उपासना यज्ञ निबद्ध नहीं वह स्वयं ही उपासकको करनी चाहिये। (स्वाम्यधिकरणं समाप्तम्)

सहकार्य्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् । ३-४-४६ ।

पक्षेण-मुनिशब्दकी शक्ति मननशीलोंमें है, इसकारण मुनि कहनेसे तृतीयम्-तीसरा सहकार्य्यन्तरविधिः-बाल्य,और पाण्डित्यका सहकारी मौन विधेय है तद्वतः-बाल्य और पाण्डित्य याने श्रवणमें पूर्ण परिपक्वको विध्यादिवत्-यज्ञादिक कर्मोंकी तरह।

कहोल और याज्ञवल्क्यके संवादमें बृ०-३-५-१ में यह श्रुति है-तस्माद् ब्राह्मणः **पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् । बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः**-वैराग्य आवश्यक है, इसकारण ब्राह्मण नियमपूर्वक उपदेश पाकर बच्चेकी तरह निरभिमान हो ब्रह्मनिष्ठ रहे और यह न बताता फिरे, कि मैं इतना पढ़ा हुआ हूं, जब श्रवण और पूर्वोक्त बाल्यभाव पक्का हो जाय तब मनन करे, उसके पूर्ण परिपक्व होनेपर निदिध्यासन करके ब्रह्मवेत्ता होता है, यह इस श्रुतिका भावार्थ है। इस श्रुतिमें जो मुनि पद आया है, उसके लिये यह सन्देह न हो जाय; कि वेदके शब्दोंका बोध हो जाता है, इस कारण यह सूत्र किया कि; श्रवण, विचार और और बच्चोंकी तरह सरलता तथा निरभिमानताके परिपक्व होनेपर मनन करना चाहिये, इसके परिपक्व होनेपर निदिध्यासनको परिपक्व करके ब्रह्मवेत्ता होता है।

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः । ३-४-४७ ।

कृत्स्नभावात्-ब्रह्मविद्या सब आश्रमोंमें है, इस कारण तु-तो छा० ८-१५-१ में गृहिणा ग्रहस्थाश्रमी द्वारा उपसंहारः-समाप्ति की गयी है।

चाहें कोई किसी भी आश्रममें हो सब आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार है, इसी कारण पूर्वोक्त छा०की श्रुतिमें यह कह दिया है कि, गृहस्थाश्रमी होकर भी जीवन भर ब्रह्मविद्याकी उपासना करनी चाहिये, इसका यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि, गृहस्थ ही विद्याके अधिकारी हैं दूसरे नहीं हैं।

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् । ३-४-४८ ।

मौनवत्—पुत्र, वित्त और प्रतिष्ठाकी इच्छासे रहित एवं भिक्षाकरने भोजन करनेवाले भिक्षुक मौनकी तरह यानी जिस तरह इस भिक्षुको मौनोपदेश दिया है इस भिक्षुकी तरह इतरेषाम्—और आश्रमवालोंको अपि—भी मौनका उपदेशात्—उपदेश होनेसे सबके लिये मौनका विधान है । (सहकार्य्यन्तरविध्यधिकरणं समाप्तम्)

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् । ३-४-४९ ।

अनाविष्कुर्वन्—बाल्यभावसे जो बालकके तमाम कर्म हैं उनका ग्रहण न होकर केवल उसकी निरभिमानता एवं सरलताका ग्रहण होता है, तब उसका यह मतलब होता है कि—अपनेको प्रकट न करता हुआ ब्रह्मनिष्ठ हो, क्योंकि अन्वयात्—उसीका यहां अन्वय होनेसे ।

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् । ३-४-५० ।

अप्रस्तुतप्रतिबन्धे—प्रतिबन्धके न रहनेपर ऐहिकम्—यहां का किया उपासनके बाद ही अभ्युदय फल देता है और प्रतिबन्धके रहनेसे उत्तरकालमें फल देता है, क्योंकि तद्दर्शनात्—प्रबलकर्मसे दूसरे कर्मोंके फलमें प्रतिबन्ध देखा जाता है ।

यदि कोई प्रबलकर्म प्रतिबन्धक न हो तो यहां अभ्युदयफल देनेवाली विद्या उपासनाके बाद ही फल देना शुरू कर देती है, यदि कोई प्रबल प्रतिबन्धक हो, तो प्रतिबन्धकके नाश हो जानेपर फल देना होगा सो देगी (ऐहिकाधिकरणं समाप्तम्)

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थाऽवधृतेस्तदवस्थावधृतेः । ३-४-५१ ।

एवम्—इसीतरह मुक्तिफल देनेवाली उपासनाविद्याके मुक्तिफलानियमः—मुक्तिफलका नियम नहीं, कि कब हो, क्योंकि तदवस्थावधृतेः—अभ्युदयफलवाले उपासनकी पूर्व सूत्रोक्त अवस्थाके अवधारणसे अभ्युदयफल देनेवाले उपासनकी तरह मुक्तिफल देनेवाले उपासनकी भी व्यवस्था है । तदवस्थावधृतेः—यह पुनरुक्ति अध्यायकी समाप्तिके लिये है ।

इति पं. माधवाचार्य्यविरचितायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः । अध्यायश्च समाप्तः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । ४-१-१ ।

उपदेशात्—ध्यान और उपासनाके पर्य्याय, श्रुतियोंमें आये हुए " वेद " शब्द द्वारा वारंवार उपदेश होनेसे असकृत्—वारंवार ध्यान उपासना आदिकी आवृत्तिः—आवृत्ति करनी चाहिये ।

ध्यान और उपासनाको एकबार करनेसे कृतकृत्य नहीं होता, किन्तु सदा करनी चाहिये, उसीसे सफल प्रयोजन होता है । तै० ब्रा० व० ब्रह्मविदाप्नोति परम्—ब्रह्मविद्—ब्रह्मका उपासक परम्—उसी सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मको, प्राप्नोति—प्राप्त होता है । इस श्रुतिमें आये हुए ' विद ' धातुका अर्थ उपासना है तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति इस ब्रह्मकी ही उपासना करके मृत्युको पार कर जाते हैं । यहां भी विदित्वामें " विदधातु " उपासनाके अर्थको कहनेमें आया है । तथा और भी अनेक जगह

'विदधातु' उपासनाके अर्थमें आया है, इस पर किसीको शंका हुई थी कि, एकवार करनी चाहिये या वारंवार करनी चाहिये, इसीके उत्तर देनेके लिये सूत्र किया गया है कि वारंवार उपासना करनी चाहिये ।

लिङ्गाच्च। ४-१-२।

च-और लिङ्गात्-स्मृतिसे भी ध्यान, उपासना आदिकी वारंवार आवृत्ति करनी चाहिये यह सिद्ध होता है ।

और लिंग अर्थात् हेतु यानी अनुमान अर्थात् स्मृतिसे भी यही बात सिद्ध होती है कि आवृत्ति करनी चाहिये । लिंगका अर्थ हेतु है हेतु अनुमानमें होता है, अनुमानका प्रयोग स्मृतिके लिये शास्त्रमें हुआ है, इसी कारण यहां लिंगका अर्थ स्मृति किया गया है । यह बात नहीं है कि एकवारके ध्यान एवं उपासनासे प्रयोजन सिद्ध हो जाय किन्तु अविच्छिन्ना ध्रुवा स्मृति तथा एकाग्र चित्तवृत्तियोंकी निरन्तरता वारम्वार करनी चाहिये । एतदर्थ ही 'विद' धातुका प्रयोग एकार्थक श्रुतियोंमें भी वारंवार आया है । स्मृतिने भी ऐसा ही प्रतिपादन किया है । (आवृत्त्यधिकरणं समाप्तम्)

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च। ४-१-३।

'जिसतरह अपने शरीरका आत्मा आप है उसी तरह आत्मा-शरीरस्थ आत्माका आत्मा परब्रह्म है, इति-ऐसा तु-ही उपगच्छन्ति-जानते हैं वा प्राप्त होते हैं च-और ग्राहयन्ति-शास्त्र भी ऐसा ही ग्रहण कराते हैं ।

उपासना करनेवालेके आत्मभावसे परब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये, शास्त्र भी ऐसा ही उपदेश देते हैं, पहिले भी ऐसा ही करते चले आये हैं । (आत्मत्वोपासनाधिकरणं समाप्तम्)

न प्रतीके न हि सः। ४-१-४।

प्रतीके-प्रतीकमें न-पूर्वोक्त आत्मानुसन्धान न करना चाहिये, सः-प्रतीक न-उपासना करनेवाले जीवकी आत्मा नहीं है हि-यह निश्चय है ।

अब्रह्ममें ब्रह्मके अनुसंधानको प्रतीकोपासना कहते हैं; जैसा कि सनत्कुमारजीने भूमा उपदेशसे पहिले नारदजीको दिया है कि "मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करो" इस प्रतीकमें पूर्वकी तरह आत्मभावसे उपासना न करे, क्योंकि यह आत्मा है नहीं । ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः-योगीश्वर सनत्कुमारके पास देवर्षि नारद यह कहते हुए पहुंचे कि, मुझे भी ब्रह्मकी उपासना वताओ,यहांसे यह प्रकरण आरंभ होकर भूमाके उपदेश पर समाप्त होता है। इसमें सनत्कुमारजीने पहिले कहा है कि "नामोपास्व" नामको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना कर । नाम ब्रह्मके उपासकका अपनी इच्छानुसार विचरण होता है । जितने प्रदेशमें नाम ब्रह्मकी प्रवृत्ति है उतने ही देशमें । नारदजीने पूछा है कि नामसे भी कुछ अधिक है, तव सनत्कुमारने कहा है वाणी नामसे अधिक है "वाचमुपास्व" वाग् ब्रह्मकी उपासना कर फिर नारदने पूछा है कि वाणीसे भी कोई वड़ा है, तव सनत्कुमारजीने कहा है कि मन वाणीसे बड़ा है "मन उपास्व" मनोब्रह्मकी उपासना कर । औरोंकी तरह मनोब्रह्मकी उपासनाका प्रयोजन बताया है कि स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य कामचारो भवति-जो मन ब्रह्मकी उपासना करता है जितने देशमें मनकी

प्रवृत्ति है उतने देशमें स्वतंत्र उसका विचरण होता है, इस तरह और भी कितनी ही उपासनायें बताई हैं ये सब प्रतीकोपासना कहलाती हैं।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् । ४-१-५ ।

उत्कर्षात्-मनआदिसे ब्रह्म उत्कृष्ट है, इसलिये मन आदिमें, ब्रह्मदृष्टिः-ब्रह्मकी भावना की जाती है।

छोटेमें बड़ेकी बुद्धि आनन्द देने वाली होती है परन्तु बड़ेमें लघुका आरोप कष्ट दायक होता है, इसी तरह लघु आदिमें ब्रह्मकी भावना की जा सकती है, ब्रह्ममें मनकी भावना नहीं की जा सकती। (प्रतीकाधिकरणं समाप्तम्)

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः । ४-१-६ ।

अंगे-यज्ञके अङ्ग उद्गीथ आदिमें आदित्यादिमतयः-आदित्य आदिकी दृष्टि च-ही करनी चाहिये, उपपत्तेः-आदित्य आदिक उत्कृष्ट हैं इसलिये।

आदित्य आदिक देवताओंकी आराधना करनेसे कर्मफलके साधन होते हैं, आदित्य आदिक देवता बड़े हैं इस लिये यज्ञके अङ्ग उद्गीथ आदिमें आदित्य आदि देवताओंकी दृष्टि करनी चाहिये **य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत**-जो यह तप रहा है उस उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये। यहां उद्गीथमें आदित्यकी दृष्टि यानी भावना अर्थात् उसे रूपकके तौरपर आदित्य मानकर उपासना करनी चाहिये, क्योंकि छोटेमें बड़ेकी भावना फलदात्री होती है। (आदित्यादिमत्यधिकरणं समाप्तम्)

आसीनः सम्भवात् । ४-१-७ ।

संभवात्-बैठे हुएका ही एकाग्रचित्त हो सकता है, इसलिये आसीनः-बैठकर ही उपासना करनी चाहिये।

खड़ा रहना व चलना इन दोनों कामोंमें प्रयत्नकी जरूरत है, पर बैठनेमें प्रयत्न न होनेसे चित्तकी उत्कट एकाग्रता हो सकती है, इसलिये उपासना बैठकर ही करनी चाहिये।

ध्यानाच्च । ४-१-८ ।

च-और ध्यानात्-निदिध्यासन अर्थात् ध्यान करनेको कहा गया है।

विजातीय किसी भी प्रत्ययसे व्यवधानरहित एक चिन्तनको ध्यान कहते हैं ध्यानमें एकाग्रता होनी चाहिये, वह एकाग्रता खड़े और चलते हुएकी नहीं हो सकती, इसलिये बैठ कर ही उपासना करनी चाहिये।

अचलत्वं चापेक्ष्य । ४-१-९ ।

च-और अचलत्वम्-अचलपनेको अपेक्ष्य-लेकर ही पृथिवी और अन्तरिक्ष आदिमें ध्यान करते हैं ऐसा उपनिषदोंमें कहा गया है; जैसे पर्वतादिक निश्चल हैं, उसी तरह उपासकको भी निश्चल होना चाहिये।

स्मरन्ति च । ४-१-१० ।

च-और ऐसा ही स्मरन्ति-स्मरण करते हैं।

गीतास्मृतिके ६–११में कहा गया है कि पवित्रदेशमें, न तो ऊँचा ही हो और न नीचा ही हो, ऐसे अचल आसनपर निश्चल हो मनको एकाग्र करके योग करे। इसमें बैठेको ही ध्यानका विधान किया गया है।

भगवान् सनत्कुमारने नारदजीको उपदेश दिया है कि, ध्यान चित्तसे भी बड़ा है **ध्यायतीव पृथ्वी ध्यायतीवान्तारिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवाऽऽपो पर्वताः** । पृथ्वी ध्यान करनेवालेकी तरह अचल है तथा अन्तरिक्ष, द्यौ और ओले आदि तथा पर्वत ध्यान करनेवालेकी तरह ही अचल हैं।

श्रुतिमें "ध्यायतीव" यह कथन ध्यायककी अचलता लेकर ही है, इस लिये अचल होकर ही ध्यान होता है तथा बैठकर अचल होकर ही ध्यान करना भी चाहिये।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्।४–१–११।

यत्र– जिस देश और जिस कालमें एकाग्रता हो तत्र–उसी देश और उसी कालमें एकाग्रता करे, अविशेषात्–क्योंकि देश और कालके लिये कोई विशेष विधान नहीं है।

जिस देश और जिस कालमें मनकी अनुकूलता एकाग्रता करनेमें हो,उसी देश एवं उसी कालमें एकाग्रता करने लग जाय। (आसीनाधिकरणं समाप्तम्)

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्।४–१–१२।

प्रायणात् आ–मरण तक ध्यान और उपासनाकी वारंवार आवृत्ति करनी चाहिये। तत्र–ध्यान और उपसनाके उद्योगारंभके कालको लेकर मरण पर्य्यन्त अपि–भी हि–निश्चयके साथ दृष्टम्–ध्यान और उपासना देखी जाती हैं।

स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते नच पुनरावर्तते नच पुनरावर्तते इसप्रकार जीवन भर करता हुआ ब्रह्मलोकको चला जाता है। इस श्रुतिमें यावज्जीवन उपासना लिखी है अतएव जबसे ध्यान और उपासना करना आरंभ किया है उस दिनसे लेकर मरण तक बराबर किये चला जाय, क्योंकि और शास्त्रोंमें भी ऐसा ही लिखा है कि जो मनुष्य इसप्रकार मरण पर्य्यन्त उपासना करता रहता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। योगशास्त्र भी मरण पर्य्यन्तकी उपासना करनेको कहता है।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।४–१–१३।

तदधिगमे–विद्याकी प्राप्ति होनेपर उत्तर–होनेवाले और पूर्व–पहिले अघयोः–पापोंका अश्लेष–विनाशौ–असंस्पर्श और नाश होता है, क्योंकि तद्व्यपदेशात्–विद्याका माहात्म्य ही ऐसा वर्णन किया है।

छा०–४–४–यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते– सत्यकाम जाबालने अपने शिष्य उपकोशलसे कहा है कि, अग्नियोंने तो तुझे लोकोंका ही उपदेश दिया है, मैं तुझे उस ब्रह्मको बताऊंगा, जिससे तुझे पाप इस तरह न छूयेंगे, जिस तरह पानी कमलके पत्तेपर नहीं ठहरता, इस श्रुतिने पापोंका असंपर्क कह दिया है। **तद्यथा इषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं ह अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते** (५–२४–३) में जिस तरह मूंजका तिनका आगमें डालते ही जलकर स्वाहा हो जाता है, उसी तरह इस ब्रह्मवेत्ताके भी सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

इस श्रुतिमें पापोंका नाश कहा है तथा और भी अनेक श्रुतियोंमें ऐसी ही व्यवस्था है । इन दोनों बातोंके सुननेसे भगवान् वेदव्यासजीने तात्पर्य्य समझा था, उसे सूत्रके रूपमें कह दिया है कि, ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होनेसे ही पहिले पापोंका नाश एवं अगाड़ी होनेवाले पाप छूते तक भी नहीं हैं। ऐसा विद्याका माहात्म्य उपनिषदोंमें कहा है । (आप्रायणधिकरणं समाप्तम्)

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु । ४--१--१४ ।

एवम्--पापकी तरह इतरस्य--पुण्यका अपि--भी असंश्लेषः--संपर्क नहीं रहता पाते--शरीरके पात होनेपर तु--सुकृतोंका विनाश तो होता है ।

जिस तरह विद्याके प्रभावसे पहिले पापोंका विनाश एवं होनेवाले पापोंका संपर्क न होनेसे एक प्रकारका सम्बन्धाभाव हो जाता है, उसी तरह विद्याके प्रभावसे ही पूर्व पुण्यका नाश और होनेवाले पुण्यके साथ सम्बन्ध ही नहीं रहता, पर शरीर रहते नहीं शरीरके पात होनेपर सुकृतोंकी पूर्वदशा होती है । (इतराधिकरणं समाप्तम्)

अनारब्धकार्य्ये एव तु पूर्वे तदवधेः । ४--१--१५ ।

पूर्वे--पहिले सुकृत दुष्कृत तु--तो अनारब्धकार्य्ये--अप्रवृत्तफल अर्थात् जिन्होंका फल प्रारम्भ नहीं हुआ है ऐसे एव--ही नष्ट होते हैं, क्योंकि तदवधेः--प्रवृत्त फलवाले पाप पुण्योंके नष्ट होनेमें शरीरपातपर्य्यन्त समयकी अवधि होनेसे ।

जिन पूर्वकर्मोंने फल देना आरम्भ किया है, वे तो भोगोंसे ही नष्ट होते हैं पर जिनका विपाक प्रारम्भ नहीं हुआ वे नष्ट हो जाते हैं । तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये इस प्रकार अनुष्ठान करनेवाले पुरुषको तबतक ही देर है जबतक प्रारब्धकर्मोंसे प्रारब्ध शरीरसे नहीं छूटता, छूटे पीछे मुक्त हो जाता है, इस श्रुतिसे प्रतीत होता है । यही सूत्रसे भगवान् व्यासदेवने भी कहा है । (अनारब्धकार्य्याधिकरणं समाप्तम्)

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात् । ४--१--१६ ।

अग्निहोत्रादि--अग्निहोत्र आदिक आश्रमकर्म तु--तो तत्कार्य्यायैव--विद्याके अर्थ ही किये जाते हैं, तद्दर्शनात्--उपनिषदोंमें ऐसा ही देखा जाता है ।

नररत्नको अग्निहोत्र आदिक आश्रमके विहित कार्य्योंको कभी परित्याग न करना चाहिये, इन आश्रमोंके विहित कार्य्य करनेसे विद्याकी प्राप्ति होती है, इस कारण और पुण्यपापकी तरह अग्निहोत्र आदि आश्रमधर्म विनाशी नहीं हैं किन्तु विद्याकी प्राप्तिमें कारण है ।

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः । ४--१--१७ ।

अतः--जो अग्निहोत्र आदिक पवित्र कर्म विद्याकी उत्पत्तिके लिये किये जाते हैं उससे अन्यापि--भिन्न भी जो उभयोः--विद्याप्राप्तिसे पहिली और होनेवाली साधुकृत्या है, उसकी हि--ही एकेषाम्--एकशाखावालोंके यहां यह व्यवस्था है, कि सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति उसके सुहृद उसकी साधुकृत्याको प्राप्त होते हैं ।

अग्निहोत्र आदि कर्म तो विद्याकी उत्पत्तिमें सहायक होते हैं, उससे भिन्न जो अच्छे काम हैं वह प्रेताके सुहृदोंको प्राप्त होजाते हैं ऐसा एक शाखावाले मानते हैं ।

यदेव विद्ययेति हि । ४-१-१८ ।

छान्दोग्योपनिषद् १-१-१० में लिखा है कि, जो आस्तिक्यबुद्धिके साथ तथा उपनिषदोंसे होनेवाले ब्रह्मज्ञानके साथ कर्मोंको करता है उसका कर्म अत्यन्त बलवान् होता है । यदेव विद्यया-यह इसी श्रुतिका प्रतीक है जिसका कि पहिले अर्थ कर चुके हैं इति-इस श्रुतिसे हि-निश्चयपूर्वक यह बात सिद्ध होती है कि बाकी साधुकृत्य वेत्ताके सुहृदोंको प्राप्त होते हैं । (अग्निहोत्राद्यधिकरणं समाप्तम्)

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते । ४-१-१९ ।

इतरे-आरब्धफलवाले पुण्यपाप तु-तो भोगेन-भोगके द्वारा क्षपयित्वा-खपाकर अथ-उसके अनन्तर सम्पद्यते-ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।

जिन पुण्यपापोंसे पापोंके फलका आरंभ हो गया है उनको तो भोगके बाद ही ब्रह्मको प्राप्त होगा, एक जन्मके भोगोंको एकजन्ममें भोगेगा, और अनेक जन्मके भोगोंको अनेक जन्ममें भोगकर प्राप्त होगा (इतरक्षपणाधिकरणं समाप्तम्)

इति पं० माधवाचार्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां
चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च । ४-२-१ ।

वाग्-अपने स्वरूपसे वाग् इन्द्रिय मनसि-मनमें युक्त हो जाती है । दर्शनात्-वाणीके अवरुद्ध होनेपर भी मन काम करता देखा जाता है च-और शब्दात्-छान्दोग्य० ६-८-६ की श्रुति भी ऐसा ही कहती है ।

शरीर छोड़तीवार वागिन्द्रिय मनसे आकर मिल जाती है, ऐसा ही देखा जाता है ऐसा ही श्रुतियोंमें भी है । अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्-हे शान्तचित्त श्वेतुकेतो! जब यह मनुष्य मरने लगता है उस समय वाणी मनमें लय अथवा मनमें मिल जाती है, मन प्राणमें, प्राण भूतोंमें, और भूत आत्मासे मिल जाता है यह कहा है. यहां "तेजसि" इसका अर्थ तेज होता है पर यह तेज और भूतोंका भी उपलक्षक है इस कारण भूतोंसे मिल जाता है, यह अर्थ किया है ।

अत एव सर्वाण्यनु । ४-२-२ ।

अतः-इस कारणसे एव-ही सर्वाणि-सब इन्द्रियें अनु-वाणीके पीछे मनमें संयुक्त हो जाती हैं । जिस कारणसे अपने स्वरूपसे वागिन्द्रिय मनसे संयुक्त होती है उसी कारणसे बाकी सब इन्द्रियाँ भी वाणीके पीछे मनसे अपने अपने स्वरूपसे संयुक्त हो जाती हैं । (वागधिकरणं समाप्तम्)

तन्मनः प्राण उत्तरात् । ४-२-३ ।

तत्—तमाम इंद्रियोंसे संयुक्त मनः—मन प्राणे—प्राणमें संयुक्त होता है उत्तरात्—उत्तर श्रुतिमें ऐसा विधान मिलनेके कारण ।

मनके साथ इंद्रियोंके संयोग बोधनकरनेवाली श्रुतिमें लिखा हुआ है कि, मन भी प्राणके साथ संयुक्त होता है, इससे प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण इंद्रियोंको अपनेमें संयुक्त किये हुए मन प्राणमें जाकर संयुक्त हो जाता है श्रुति पहिले ही दिखा चुके हैं । (मनोऽधिकरणं समाप्तम्)

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः । ४-२-४ ।

सः—वह मनसे संयुक्त हुआ प्राण अध्यक्षे—कारणोंके अधिपति जीवमें संयुक्त होता है । तद्—प्राणका उपगमादिभ्यः—उपगम उत्क्रांति और प्रतिष्ठाके सुननेसे।

बृ० आत्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायान्ति ४-३-३८में कहा है कि, अन्तकालमें सब इंद्रिय जीवमें उपगत होते हैं इस उपगमसे एवं तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति ४-४-२ में लिखा है कि, उत्क्रमण करते हुए जीवके साथ प्राण भी उत्क्रमण करता है इस उत्क्रांतिसे तथा कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि—प्रश्नोपनिषद् ६-३ में लिखा है कि, किसके उत्क्रमण करनेपर मैं उत्क्रांत होऊंगा और किसकी प्रतिष्ठाके साथ मेरी प्रतिष्ठा होगी, इस प्रतिष्ठाके श्रवणसे मन आदिसे संयुक्त प्राण जीवके साथ संयुक्त होता है । (अध्यक्षाधिकरणं समाप्तम्)

भूतेषु तच्छ्रुतेः । ४-२-५ ।

भूतेषु—भूतोंमें जीवसंयुक्त प्राण संयुक्त होता है । तच्छ्रुतेः—उपनिषदोंमें उसका ऐसा ही श्रवण होता है ।

छान्दोग्य उपनिषद् ६-१५-१ में जीवसंयुक्त प्राणकी तेजमें सम्पत्ति कही है, यह तेजशब्द अन्य भूतोंका उपलक्षक है, शरीरारंभक सब भूतोंके सूक्ष्म तत्त्वोंके साथ प्राणसहित जीव संयोग करता है, इसीलिये जीवको बृहदारण्य ४-४-५ में पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय, और तेजोमय कहा है। आपोमय अर्थात् जलके साथ सम्बंधित है इसी तरह औरोंके भी अर्थ समझना ।

नैकस्मिन्दर्शयतो हि । ४-२-६ ।

एकस्मिन्—अकेले तेजमें—संयुक्त न—नहीं होता, हि—निश्चयके साथ दर्शयतः—श्रुति, स्मृति ऐसा ही दिखाते हैं ।

अकेला तत्त्व या भूत काम करनेके योग्य नहीं होता, इस लिये अकेले भूतके साथ जीव संवन्ध भी नहीं करता। छान्दोग्य उपनिषद् ६-३-३ की श्रुतियोंने कहा है कि भूत आपसमें मिलकर उपादेय होते हैं स्मृतिमें भी यही लिखा है कि, अकेला तत्त्व सृष्टिरचनामें अनुपयुक्त होनेके कारण सब तत्त्व आपसमें मिलकर सृष्टिरचना करते हैं। (भूताधिकरणं समाप्तम्)

समाना चासृत्यनुक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य । ४-२-७ ।

आसृत्यनुक्रमात्-नाडीप्रवेशसे पहिले च-विद्वान्की भी उत्क्रांति (शरीरत्याग) अविद्वान्के समाना-समान है, अनुपोष्य-विद्वान्को शरीरके सम्बन्धके विना परित्याग किये यानी शरीरसे च-ही अमृतत्वम्-अमृतत्वकी प्राप्ति होती है ।

इस पादके आरम्भसे लेकर अबतक जो भी कुछ शरीरपरित्यागका प्रकार कहा है, वह सबके लिये समान है जो विद्वान् पुरुष मूर्धन्य यानी सुषुम्ना नाड़ीसे गमन करता है वह मोक्षको पाता है । और अन्य अन्य नाड़ियोंसे गमन करनेवाले संसारचक्रमें भ्रमते हैं यंह विशेषता है यह छान्दोग्य ८-६-६ के आधारपर कहा गया है । **शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति**-सौ और एक हृदयकी नाड़ी हैं, उनमें एकएक मूर्धन्यनामकी नाड़ी है जो ब्रह्मरन्ध्रकी ओर गयी है उससे ऊपर जानेसे मोक्ष होता है तथा और सौ नाड़ी उत्क्रमणमात्रका साधन है; उनसे जानेपर अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं होती, इस श्रुतिने कह दिया है कि, मोक्षके जानेवालेको छोड़ बाकी सबकी एकसी गति है ।

जीवन्मुक्त कैसे होता है इस विषयको भी श्रुति कहती है कि **यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते**- बृ० ४--४-७ जो इस मनुष्यके हृदयमें काम समवस्थित हैं वे छूट जायंगे, उस समय वह मर्त्य अमृत हो जाता है और ब्रह्मानन्दका भोग करता है । यह जीवन्मुक्तको अमृतत्व शरीरके साथ सम्बन्ध रखते हुए प्राप्त होता है । कोई कोई आचार्य्य जीवन्मुक्तिको नहीं मानते ।

तदापीतः संसारव्यपदेशात् । ४-२-८ ।

अपीतेः-अर्चिरादिक मार्गसे देशविशेष जाकर ब्रह्मप्राप्तिसे आ-पहिले संसार-जीवका देहके साथ सम्बन्धका व्यपदेशात्-छा० ८-१३ में व्यपदेश किया गया है ।

विद्या या ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर शरीर रहते हुए भी पूर्वोक्त पुण्यपापके साथ सम्बन्ध नहीं होता, अन्तमें प्रारब्धका क्षय होनेपर अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोकको चला जाता है ।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः । ४-२-९ ।

च-और प्रमाणतः-प्रमाणसे यानी कौषीतकि देवयानसे जाते हुए विद्वान्का चन्द्रमाके साथ संवाद देखनेसे (यहां अतिवाहकगण उससे पूछते हैं कि तू कौन है फिर वह पूछनेवालेको उत्तर देता है । यह विना सूक्ष्मके साथ गये नहीं हो सकता ।) तथा-अर्चिरादि मार्गसे जातीवार सूक्ष्म शरीर रहता है ऐसी उपलब्धेः-अवगति होनेसे प्रतीत होता है कि सूक्ष्मम्-उस समय भी सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध साथ रहता है, विद्वान्का ब्रह्मलोक जातीवार स्थूल शरीरके साथ सम्बन्ध न रहनेपर भी सूक्ष्मशरीरसे तो सम्बन्ध रहता ही है ।

नोपमर्देनातः । ४-२-१० ।

अतः-इसकारण बृ०४-४-७ का वचन उपमर्देन-शरीरके बन्धननाशद्वारा न-अमृतत्वका उपदेश नहीं देता ।

बृह० ४-४-७ में कहा है यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते-जब इसके हृदयगत बुरे मनोरथ शान्त हो जांयगे, उस समय यह उपासक अमृत हो जायगा और इसके अनारब्ध पूर्व पापोंका नाश एवं उत्तर पापोंका असंपर्क होता है और यहीं उपासनाके समयमें ब्रह्मका अनुभव करता है अथवा स्थूलके नाश होनेपर भी सूक्ष्म नष्ट नहीं होता ।

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा । ४-२-११ ।

च-और मरनेके समय अस्य-इस सूक्ष्म शरीरके एव-ही उपपत्तेः-रहनेसे ऊष्मा-उष्णताकी उपलब्धि होती है ।

मरनेके पहिले स्थूल शरीरमें सूक्ष्म शरीरके रहते ही उष्णता देखी जाती है, सूक्ष्म शरीरके छोड़ देनेपर स्थूलमें उष्णता नहीं देखी जाती, इससे प्रतीत होता है कि जबतक विद्वान् मूर्धन्य नाड़ीमें प्रवेश करके शरीर नहीं छोड़ता, तबतक आवागमन साधारण संसारी जीवोंके समान ही होता है । मरते समय मरनेसे पहिले सूक्ष्म शरीरके रहनेपर ही उष्णताकी उपलब्धि होती है ।

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् । ४-२-१२ ।

प्रतिषेधात्-बृ०४-४-६में लिखा है कि-न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति-उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते इसतरह उत्क्रान्तिका प्रतिषेध होनेसे विद्वान्की सप्राण उत्क्रान्ति कैसी ? इति-ऐसा चेत्-तो न-नहीं कह सकते शारीरात्-जीवसे प्राणोंके उत्क्रमणका निषेध है न कि शरीरसे निषेध है, एकेषाम्-माध्यन्दिन शाखावालोंके यहां हि-वास्तविक रूपसे स्पष्टः-यह विषय स्पष्ट है ।

बृहदारण्य०४-४-६ न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति-इसपर सामान्य दृष्टि डालनेसे यह शंका हो सकती है कि यहां विद्वान्के प्राणोंके उत्क्रमणका निषेध कर दिया गया है पर विशेष विचार करनेसे यह निश्चय हो जाता है कि, जीवको छोड़ किसी दूसरेके साथ प्राण सम्बन्धित नहीं होते जीवके ही साथ रहते हैं तथा माध्यन्दिनीय शाखाके और उपनिषदोंमें भी यह परिस्फुट है ।

स्मर्यते च । ४-२-१३ ।

च-और स्मर्यते-स्मरण भी करते हैं कि, इनमें जो एक ऊपर बैठा हुआ था, वह सूर्य्यमण्डल-का भेदन करके ब्रह्मलोकका अतिक्रमण करके परागतिको प्राप्त हो गया है । इन वचनोंसे प्रतीत होता है कि विद्वान्की मूर्धन्य नाड़ीसे उत्क्रान्ति होती है ।

अथवा इन रश्मियोंमें या नाड़ियोंमेंसे एक ऊपरको गयी है, उससे उत्क्रमणकरके सूर्य्यमण्डलको भेद कर यानी उससे भी परे जा ब्रह्मलोक यानी कार्य्यब्रह्मके लोकका भी अतिक्रमण करके ब्रह्मको प्राप्त हो गया है । (आसृत्युपक्रमाधिकरणं समाप्तम्)

तानि परे तथा ह्याह । ४-२-१४ ।

तानि-जीवसे परिष्वक्त यानी संयुक्त तथाभूत भूतसूक्ष्म परे-परमात्मामें सम्पन्न होते हैं, तथा-तैसे हि-ही आह-छा० ६-८-६ की श्रुति भी कहती है ।

कि तेजः परस्यां देवतायाम्-तेजशब्दसे कहेजानेवाले जीवसहित भूतसूक्ष्मोंकी परमात्मामें संपत्ति होती है । तब तेज भूतसूक्ष्म तथा जीवात्माका भी उपलक्ष्य सुषुप्ति और प्रलयमें जैसे परमा-

त्माको प्राप्त हो; सुख दुःखके आयासकी विश्रांति हो जाती है, उसी तरह यहां भी हो जाती है। (परसंपत्त्यधिकरणं समाप्तम्)

अविभागो वचनात् । ४-२-१५ ।

वचनात्—छा० ६-८-६ के वचनसे जीवसहित भूतसूक्ष्मोंका अविभागः—अपृथग्भाव यानी जिसका पृथग् व्यवहार न हो सके ऐसा सम्बन्ध होता है।

भूतसूक्ष्मसहित जीवका परमात्माके साथ ऐसा सम्बन्ध होता है जिसका पृथग् व्यवहार नहीं किया जा सकता। ऐसा ही छा० ६-८ में आयी हुई संपत्तिका अर्थ है। (अविभागाधिकरणं समाप्तम्)

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकतया । ४-२-१६ ।

तद्—शरीर छोड़नेवाले जीवका ओकः—स्थान हृदय, उसका अग्र—नाडीमुख ज्वलनम्—प्रदीप्त रहता है, तत्—उससे ही उसके प्रकाशितद्वारः—निकलनेके द्वार चक्षु आदिक प्रकाशित रहते हैं। हार्द—हृदयमें रहनेवाले परम पुरुषसे अनुगृहीतः—अनुगृहीत यानी परम पुरुषका कृपापात्र विद्यासामर्थ्यात्—परम पुरुषकी आराधनारूप अत्यन्त प्यारी विद्याकी सामर्थ्यसे च—और तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्—विद्याका अंगरूप मार्गके अनुस्मरण विधिके होनेसे शताधिकतया—मूर्धन्य नाड़ीसे गमन करता है।

मरनेके समय हृदयमें लगे हुए तमाम नाड़ियोंके दरवाजे प्रदीप्त हो जाते हैं जिससे चक्षु आदि सोपकरण जीव स्थूल शरीरसे बाहिर निकल जाता है, पर आराधना करनेवाले भगवान्के भक्त तो मूर्धन्यनाडी यानी सुषुम्नासे आर्चिरादि मार्ग होकर परम पदको चले जाते हैं। क्योंकि विद्याके साथ विद्वानोंके लिये ब्रह्मलोक जानेका मार्ग भी बताया है। (तदोकोऽधिकरणं समाप्तम्)

रश्म्यनुसारी । ४-२-१७ ।

नाड़ीमें रहनेवाली जो आदित्यकी रश्मी उनसे गमन करता है, यह बात नहीं है कि, रातमें सूर्य्यकी किरण नहीं रहती हैं, यदि न रहती होतीं तो गरमीके दिनोंमें गरमी अधिक न मालूम होती, पर सर्दीके दिनोंमें ठंडसे किरणोंकी गरमीका अभिभव हो जाता है, इस कारण नहीं प्रतीत होतीं पर हैं अवश्य ही। (रश्म्यनुसार्यधिकरणं समाप्तम्)

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च।४-२-१८।

निशि—रातमें मरे हुएको न—परम पुरुषार्थरूप ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती,इति—ऐसा कहो चेत्—तो न—नहीं कह सकते, क्योंकि सम्बन्धस्य—कर्मसम्बन्ध तो यावद्देहभावित्वात्—जबतक देह रहेगी तबतक रहता है च—और श्रुति भी ऐसा ही दर्शयति—दिखाती हैं कि जबतक देह है तभीतक देर है; देहको छोड़ते ही ब्रह्मको प्राप्त हो जायगा।

जबतक देह है तब ही तक कर्मसम्बन्ध रहता है देहके बाद कर्मसम्बन्ध तो रहता ही नहीं,

इसलिये रातके मरे हुए परमोपासक पुरुषोत्तमके कृपापात्र भक्तको ब्रह्मप्राप्ति होती है, उसकी प्राप्तिमें कोई व्यवधायक नहीं रहता। (निशाधिकरणं समाप्तम्)

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे । ४-२-१९ ।

च-और अतः-इस कारणसे ही दक्षिणे-दक्षिण अयने-अयनमें अपि-भी मरे हुए विद्वान्को ब्रह्मप्राप्ति होती है ।

शरीरपरित्यागके बाद कर्मसम्बन्ध नहीं रहते, इस कारण दक्षिणायनमें भी मरे हुए विद्वान्को ब्रह्मप्राप्ति होती है ।

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते । ४-२-२० ।

योगिनः-योगियोंके प्रति-लिये स्मर्यते-गीता अध्याय ८ में उत्तरायणमें मरना कहा गया है,च-इस कारण एते-उत्तरायण और दक्षिणायन स्मार्ते-योगके अंगरूप एवं योगियोंके स्मरण करने योग्य है ।

उत्तरायण और दक्षिणायनका काल योगियोंके लिये कहा गया है योगके अंगके रूपमें । इसलिये योगियोंको इसका ध्यान रखना चाहिये यह कालविधान स्मार्त है, श्रौत नहीं है । (दक्षिणायनाधिकरणं समाप्तम्)

इति पं० माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः । ४-३-१ ।

तत्-छान्दोग्य०४-१५-५ अथ यदु चैवास्मिञ् शब्दं कुर्वन्ति-इस ब्रह्मविद्के मरजानेपर पुत्रादिक दाहकर्म करें वा न करें वे आर्चिरादिकसे ही गमन करते हैं, इस स्थलमें एवं छा०८-६-५ अथ एतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते-ब्रह्मविद् मरनेपर सूर्य्यकी किरणोंसे ऊपर जाता है यहां पर तथा कौषीतकि०१-३ स एतं देवयानं पन्थानमासाद्य अग्निलोकमागच्छति-मरनेपर ब्रह्मवेत्ता देवयानको प्राप्त होकर अग्निलोकको आ जाता है । इस जगह बृ०६-२-१५ तेऽर्चिराभिसंभवन्ति-जो इस प्रकारसे पंचाग्निविद्याको जानते हैं, अथवा जो स्वर्ग, मेघ, पृथिवी, पुरुषस्त्रीरूप अग्नियोंमें श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्य्य संयुक्त होकर, संचरण करनेवाले जीवको ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करते हैं । अथवा जो वनमें रहकर श्रद्धासहित सत्य परमात्माको जीवात्मामें उपासना करते हैं वे दोनों आर्चि-अभिमानी देवतासे संगत होते हैं । इस प्रकरणमें और बृ० ५-१०-१ यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति वायुमागच्छति-जब ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोकसे उत्क्रमण करता है तो वायुको प्राप्त होता है फिर वायु उसे अपनेसे अगाड़ी जानेके लिये अपने शरीरमें रथके पहियेके छेदके बराबर छेद कर देता है । जिससे वह उसमेंसे निकलकर सूर्य्यको प्राप्त कर लेता है, वह भी उसे अपने लम्बर बाजेके छेदके बराबर छिद्र करके देता है, जिससे वह उससे

अगाड़ी चन्द्रमाको प्राप्त कर लेता है, वह भी उसे नगाड़ेके छेदके बराबर अपनेमें छिद्र करके दे देता है, जिससे वह अगाड़ीको बढ़ जाता है और ब्रह्मलोकमें पहुंच जाता है । इन सब स्थलोंमें तत्--(तस्य--)वही एक आर्चिरादिकमार्गकी प्रथितेः--प्रसिद्धि होनेके कारण ब्रह्मवेत्ता आर्चिरादिना-आर्चिरादिक मार्गसे ही ब्रह्मलोक पहुंचता है ।

सबमें आर्चिरादिमार्गसे जानेका कथन होनेके कारण आर्चिरादिमार्गसे ही गमन करता है। (अर्चिराद्यधिकरणं समाप्तम् ।)

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् । ४-३-२ ।

अब्दात्-संवत्सरसे वायुम्--वायुको प्राप्त होता है, क्योंकि अविशेष-बृ०-मासेभ्यो देवलोकम्-६-२-१४में साधारण देवलोकशब्दसे एवम् विशेषाभ्याम्-बृ०स वायुमागच्छति-५--१०-१ में असाधारण वायुशब्दसे ऐसा ही प्रतीत होता है ।

आर्चिरादि मार्गसे गमन करता हुआ ब्रह्मवेत्ता पुरुष संवत्सरके बाद वायुको प्राप्त होता है। ऐसा ही बृ० ६-२-१४ एवम् बृ० ५-१०-१से सिद्ध होता है। (वाय्वधिकरणं समाप्तम्)

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् । ४--३--३ ।

तडितः-विद्युत्के अधि-ऊपर वरुणः-वरुणका निवेश करना चाहिये, क्योंकि सम्बन्धात्-विद्युत् और वरुणका सम्बन्ध है ।

कौषीतकि०१-३ में कहे हुए वरुणका अभिनिवेश विद्युत्से उत्तर करना चाहिये, क्योंकि बिजली मेघमें ही रहा करती है और जलका अभिमानी देवता वरुण है। कौ० १-३ स एतं देवयानं पन्थानमापद्य अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्-आर्चिरादि मार्गसे जानेवाला जीव अग्नि, वायु, वरुण, आदित्य, इन्द्र, प्रजापति, ब्रह्मलोकको जाता है । यहां वरुणके बाद विद्युत्का समावेश होना चाहिये, इस प्रकार परस्पर अन्वित होकर जो उत्तरायण मार्गका निष्कर्ष होता है वह लिखते हैं ।

उत्तरायणका मार्ग सोपकरण जीव मूर्धन्यनाड़ीद्वारा शरीरसे बाहिर निकलकर नाड़ीमें स्थित सूर्य्यरश्मि जिसे आर्चि वा अग्नि वा अग्निकी शिखाके अभिमानी द्वारा उत्क्रमण करता हुआ दिनके अभिमानी उसके पीछे शुक्लपक्षके अभिमानी द्वारा ऊपर जाता है उसके बाद उत्तरायणका अभिमानी देव संवत्सरके अभिमानी देवताके पास पहुँचा देता है, संवत्सरके बाद वायुके अभिमानी देवताके द्वारा सूर्य्यलोक पहुंचता है, उससे चन्द्रमाके लोकमें पहुंचता है, चन्द्रमा जलके अभिमानी वरुण तक पहुंचा देते हैं । वरुणसे विद्युत् तथा उससे इंद्र और उससे प्रजापतिके लोक पहुंच जाता है, प्रजापतिके लोकसे बाद ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । (वरुणाधिकरणं समाप्तम्)

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् । ४-३-४ ।

तल्लिङ्गात्-उत्तरायणके प्रकरणमें सबसे पीछे यह जो लिखा है कि-तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति-वैद्युत पुरुष अमानव है, वह इन्हें ब्रह्म प्राप्त कराता है। इस श्रुतिमें गमयति-प्राप्त

कराता है, वा चलाता है, इस निर्देशसे प्रतीत होता है कि आर्चिरादिक आतिवाहिकाः—अतिवहन करनेवाले यानी चलनेवालोंको उनकी गतिमें सहायता देनेवाले हैं ।

परमपुरुषने ब्रह्मवेत्ताओंको ब्रह्मलोकके पहुंचानेमें नियुक्त किये हुए आर्चिरादिके अभिमानी देवता हैं, जो उत्क्रमण करते हुए विद्वान्‌की गतिमें सहायक होते हैं ।

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः । ४–३–५ ।

ततः—विद्युत्‌लोकसे ऊपर वैद्युतेन—विद्युत्‌से आये हुए पुरुषके द्वारा एव—ही ब्रह्मलोकतक गमन करता है, क्योंकि तच्छ्रुतेः—ऐसी ही श्रुति है कि वैद्युत पुरुष ब्रह्मतक पहुंचा देता है ।

वैद्युत पुरुष इन्द्रादिक लोकोंमेंसे ले जाता हुआ ब्रह्मलोकतक पहुंचा देता है । चन्द्रमसो वैद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति—चन्द्रसे चलकर क्रमप्राप्त विद्युत्‌को पहुंचते हैं, यह वैद्युत पुरुष असंसारी है, वह इनको ब्रह्म प्राप्त करा देता है । यह वैद्युत पुरुष ब्रह्म प्राप्त कराता है इससे मालूम होता है कि, यही विद्युत्‌से अगाड़ीके भी लोकोंमें जाता है । (आतिवाहिकाधिकरणं समाप्तम्)

कार्य्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः । ४–३–६ ।

बादरिः—बादरि आचार्य्य कहते हैं कि, आर्चिके अभिमानी देवसे लेकर अमानव पुरुषतक आतिवाहिकगण कार्य्यम्—कार्य्यब्रह्म हिरण्यगर्भके लोकको प्राप्त कराते हैं, न कि परब्रह्मको । विद्याका अविद्याकी निवृत्तिमात्र ही प्रयोजन है । अविद्या निवृत्त हुए पीछे परब्रह्म नित्य प्राप्त है उसके लिये देशविशेष जानेकी आवश्यकता नहीं है । अस्य—हिरण्यगर्भकी उपासना करनेवालोंको ही हिरण्यगर्भके लोकको जानेके लिये गत्युपपत्तेः—जाना संभव है ।

आर्चिरादिक आतिवाहिक कार्य्यब्रह्मके लोक कार्य्यब्रह्मके उपासकोंको पहुंचाते हैं, न कि परब्रह्म के उपासकोंको, क्योंकि परब्रह्मके उपासकोंको अविद्यामात्र ही नाश करनी है, उसके नाश हुए पीछे परब्रह्म हर जगह प्राप्त है ।

विशेषितत्वाच्च । ४–३–७ ।

च—और विशेषितत्वात्—लोकशब्द और बहुवचनका विशेषण कर देनेसे, कार्य्यब्रह्मके उपासकोंको कार्य्यब्रह्मके लोकको ले जाते हैं, यह सिद्ध होता है ।

बृ० ६–२–१५ में तान् वैद्युतात् पुरुषोऽमानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः—उनको वैद्युत पुरुष ब्रह्मलोक पहुँचा देता है, वे निरतिशय आनन्द और ऐश्वर्य्यवाले परपुरुषसे सर्वदा अनुगृहीत हो ब्रह्मलोकमें वसते हैं फिर उन्हें संसारका बन्धन नहीं होता । लोक तो हिरण्यगर्भका है इसलिये प्रतीत होता है कि, कार्य्यब्रह्मलोकको जाते हैं ।

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः । ४–३–८ ।

सामीप्यात्—हिरण्यगर्भ प्रथमज है इस कारण ब्रह्मका समीपी होनेसे तु—तो तद्—उस कार्य्यब्रह्मको ब्रह्मका व्यपदेशः—व्यवहार है यानी वह ब्रह्म कहा जाता है ।

श्वे० ६–१८ में यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्—जिसने सबसे पहिले ब्रह्मा उत्पन्न किया और आत्मस्वरूपको दिखानेवाले वेद उसे दिये इस श्रुतिसे हिरण्यगर्भ प्रथमोत्पन्न और ब्रह्मसमीपी मालूम होता है, इसीसे उसे ब्रह्म और उसके लोकको ब्रह्मलोक कह दिया है।

कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहाऽतः परमभिधानात्। ४–३–९।

कार्य्य—कार्य्यब्रह्मके लोकके अत्यये—नाश होनेपर तद्—ब्रह्मलोकके अध्यक्षेण सह—मालिक हिरण्यगर्भके साथ, परब्रह्मको प्राप्त होजाते हैं, क्योंकि अतः—कार्य्य ब्रह्मलोकके पीछे परम्—परब्रह्मको प्राप्त होते हैं अभिधानात्—ऐसा श्रुतियोंमें कहा है।

कैवल्योपनिषद् १–३ में लिखा है कि—कार्य्यब्रह्मके लोकका नाश होनेपर कार्य्यब्रह्मके साथ परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है—ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।

स्मृतेश्च। ४–३–१०।

च—और स्मृतेः—स्मृतिसे भी यही प्रतीत होता है स्मृतिः—"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्" ब्रह्मलोकके नाश होजाने पर ब्रह्माके साथ परमात्माको प्राप्त होते हैं यह लिखा हुआ है।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्। ४–३–११।

मुख्यत्वात्—ब्रह्मशब्द परब्रह्ममें मुख्यरूपसे वर्तनेके कारण परम्—आर्चिरादिक मार्गसे परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ऐसा जैमिनिः—जैमिनि आचार्य्य मानते हैं।

छा०—में जो यह कहा है कि, वैद्युत पुरुष आर्चिरादिसे आनेवाले ब्रह्म पहुंचा देता है यहां लोकशब्दका प्रयोग न हो, केवल ब्रह्मका प्रयोग है, ब्रह्मशब्द मुख्य ब्रह्ममें वर्तता है, इस लिये मुख्य ब्रह्मको प्राप्त होते हैं यह सिद्ध हुआ।

दर्शनाच्च। ४–३–१२।

च—और दर्शनात्—छा० में ऐसा ही देखा जाता है।

छा० ८–३–४ में एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते—यह सुषुप्तिस्थानमें प्रसन्न होनेवाला जीव इस शरीरको छोड़कर परमात्माको या अपने रूपसे अभिनिष्पन्न होता है। यह श्रुति शरीरके छोड़नेके बाद आर्चिरादिक मार्गसे ब्रह्मप्राप्तिका साक्षाद् उपदेश दे रही है।

न च कार्य्ये प्रत्यभिसन्धिः। ४–३–१३।

छा० ८–१४ में जो प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये—यह श्रुति है इसका अर्थ—प्रजापति हिरण्यगर्भके सभागृहको प्राप्त होऊँ यह करके कार्य्य ब्रह्मके लोककी प्राप्तिकी शंका मत करना, क्योंकि च—और कार्य्ये—हिरण्यगर्भके विषयमें प्रत्यभिसन्धिः—प्राप्त होनेका संकल्प न—नहीं है छा० ८–१२ में जो यह संकल्प किया गया है कि—अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्—जिस तरह घोड़ा अपने रांगटोंको खड़ा करके अपने वदनसे धूलि आदिको अनायास ही निकाल देता है, उसी तरह अपने

शरीरसे पापको निकाल राहुग्रसित चन्द्रमाकी तरह मुक्त होकर शरीरको छोड़ कृतकृत्य हो ब्रह्मलोकको प्राप्त करूं यह चिन्ता कार्य्यब्रह्मके विषयमें नहीं हो सकती,कारण कि वहां कुछ कृत्य अवशेष रहता है किन्तु परब्रह्मके लिये ही हो सकती है । प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये—इसका प्रजापति परमात्माके आस्थान यानी भगवान्ने अपनी भोगभूमिरूपसे स्वीकृत, जिसमें भगवान् अपने नित्यविग्रहसे भक्तों को आनन्द देते हैं, उसे मैं प्राप्त होऊं यह अर्थ है पूर्वोक्त कार्य्यब्रह्मकी लोकप्राप्तिका अर्थ नहीं है।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषा-त्तत्क्रतुश्च । ४—३—१४ ।

अप्रतीकालम्बनान्—जो प्रतीककी उपासना करनेवाले नहीं हैं उन्हें अर्चिरादिक आतिवाहिकगण नयति–ब्रह्मलोकमें ले जाता है क्योंकि उभयथा—ब्रह्मके उपासकोंको ले जाता है ऐसा माननेपर तो छा० ८—३—४ की एष संप्रसादः—यह श्रुति कुपित होगी (इसका अर्थ ४—३—१२ वें सूत्रमें कर चुके हैं) यदि परब्रह्मके उपासकोंको ही ले जाता है ऐसा मानें तो ५—१०—१ तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये—यह श्रुति पञ्चाग्निविद्याके वेत्ताको अर्चिरादिकगण ब्रह्मलोकमें पहुंचाता है यह न बनेगा इस तरह दोनों तरहसे च—भी दोषात्—दोष होनेसे अप्रतीकके उपासकोंको नहीं ले जाता यही मानना अच्छा है च—क्योंकि तत्क्रतुः—जो जिसकी उपासना करता है, वह उसीको प्राप्त करता है ब्रह्मवेत्ता और पञ्चाग्निवेत्ता दोनों ही ब्रह्मकी उपासना करते हैं ।

जो प्रतीककी उपासना छोड़कर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे सब ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं । प्रतीकालम्बनके उपासकोंको छोड़कर बाकियोंको अर्चिरादिगण ले जाता है, ऐसा बादरायण आचार्य्य मानते हैं, क्योंकि संकल्पके या उपासनाके अनुसार प्राप्ति होती है, ऐसा न माननेपर दोष होते हैं, जो सूत्रोंके पदोंका अर्थ करतीवार दिखाये जा चुके हैं ।

विशेषं च दर्शयति । ४—३—१५ ।

च—और प्रतीककी उपासना करनेवालोंको प्रतीकके अनुसार विशेषम्—जो कोई नामब्रह्मका उपासन है तो नामकी जितने देशमें प्रवृत्ति है उतने देशमें उसका यथेष्ट संचरण होता है परन्तु जो कोई नामसे बड़ी वाणीब्रह्मकी उपासना करता है, तो वह वाणीकी जितने देशमें प्रवृत्ति है उतने देशमें यथेष्ट संचरण करता है इसतरह एकसे एकको विशेष दर्शयति—दिखाता है ।

एकसे एक प्रतीकको अधिक और उसकी उपासनाके फलको अधिक बतानेके कारण मालूम होता है कि, प्रतीकोपासकोंको उस उपासनासे ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती ।

अचिद्मिश्रित चिद्वस्तुकी तथा केवल चिद्वस्तुकी ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करनेवालोंको छोड़कर परब्रह्मके उपासक तथा आत्माको प्रकृतिविमुक्त तथा ब्रह्मात्मक मानकर उपासना करनेवालोंको ब्रह्म-लोक यानी ब्रह्मको प्राप्त करता है (कार्य्याधिकरणं समाप्तम्)

इति पं०माधवाचार्य्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् । ४-४-१ ।

सम्पद्य-यह जीवकी आर्चिरादिक मार्गसे परब्रह्मको प्राप्त हो जो दशा विशेष होती है वह आविर्भावः-स्वरूपका आविर्भाव है, स्वेन-क्योंकि छा० ८-३-४ में स्वेन-स्वेन यह पद रूपेण-का विशेषण शब्दात्-करनेसे यह प्रतीत होता है ।

यह जीव इस शरीरको छोड़ आतिवाहिक आर्चिरादिक गणद्वारा देशविशेषमें पहुंच कर परब्रह्मको प्राप्त हो अपने निजीरूपसे अच्छीतरह संपन्न होता है । ऐसा श्रुति कहती है ।

मुक्तः प्रतिज्ञानात् । ४-४-२ ।

मुक्तः-कर्मोंका सम्बन्ध और उससे बने हुए देह आदिसे मुक्त हुआ अपने सहज रूपसे समवस्थित ही अपने रूपसे अभिनिष्पन्न हो गया ऐसा कहा जाता है, क्योंकि प्रतिज्ञानात्-ऐसी ही प्रतिज्ञा की गयी है प्रतिपाद्यके रूपमें ।

कर्मरूप अविद्यासे बधे हुए जीवकी अविद्या निवृत्त हो जानेसे वह अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है, वह ही उसकी अभिनिष्पत्ति या मोक्ष समझना चाहिये ।

आत्मा प्रकरणात् । ४-४-३ ।

आत्मा-यह प्रत्यगात्मा स्वरूपसे ही जरा, रोगादिरहित सत्यकाम तथा सत्यसंकल्पवाला है यह प्रकरणात्-इन्द्र विरोचन और प्रजापतिका छा० ८ का विषय ही प्रत्यगात्माका है ।

जीवात्माका असली स्वरूप जरा, रोगादिरहित एवं सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, पर वह कर्मरूप अविद्यासे छिपा रहता है पर आर्चिरादिकी सहायतासे देशविशेषमें पहुंच परब्रह्मको पाकर प्रकट हो जाता है । (सपंद्याविर्भावाधिकरणं समाप्तम्)

अविभागेन दृष्टत्वात् । ४-४-४ ।

यह जीव सम्पूर्ण बन्धोंसे रहित हो परब्रह्मको प्राप्त होकर परब्रह्मसे अपने आत्माको अविभागेन-अविभागसे अनुभव करता है दृष्टत्वात्-क्योंकि श्रुति ऐसा ही प्रतिपादन करती है ।

छा०६-८-७ तत्त्वमसि-इत्यादिक वाक्योंसे प्रतीत होता है कि परमात्माका प्रकारीभूत जीव है, इस कारण मैं ही ब्रह्म हूँ, इस एकताके साथ अनुभव करता है इस प्रकारीभूत जीवका भी स्वरूप वैसा ही है इसलिये साम्यनिर्देश है । (अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणं समाप्तम्)

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः । ४-४-५ ।

जैमिनिः-जैमिनि आचार्य्य ब्राह्मेण-सत्यकाम और सत्यसंकल्पपना एवं जरा, रोग आदिसे रहितता जो ब्रह्मका रूप है, उससे मुक्तपुरुष संपन्न होता है ऐसा मानते हैं यह उपन्यास-प्रजापति और इन्द्रके संवादमें ब्रह्मके गुणरोगरहित एवं सत्यकाम, सत्यसंकल्पपना आदि ही जीवके भी सुने जाते हैं आदिभ्यः-तथा इन्हीं गुणोंके पीछे क्रीडा आदिक सुनी जाती हैं ।

ब्रह्मके गुणोंसे मुक्तपुरुष संपन्न होता है, यह प्रजापति और इन्द्रके संवादसे प्रतीत होता है ।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः । ४–४–६ ।

चिति–चैतन्यमात्र ही आत्माका स्वरूप है तन्मात्रेण–उसी रूपसे आविर्भूत होता है तदात्मकत्वात्–क्योंकि जीवात्मा वैसा ही है इति–ऐसा औडुलोमिः–औडुलोमि आचार्य्य मानते हैं ।

आत्माका स्वरूप चैतन्य है उसीसे जीव भी आविर्भूत होता है क्योंकि जीवका भी तो वैसा ही रूप है, ऐसा औडुलोमि आचार्य्य मानते हैं ।

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः । ४–४–७ ।

एवम्–विज्ञानमात्रस्वरूप प्रतिपादन करनेपर अपि–भी अविरोधं–सत्यकाम और सत्यसंकल्पपना आदिक गुणोंका कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि उपन्यासात्–छा०में ये गुण कथन किये गये हैं और पूर्वभावात्–ये मुक्त होनेसे पहिले भी थे, ऐसा बादरायणः–व्यासजी मानते हैं ।

जीवात्मा विज्ञानघनरूप है, सत्यकाम और सत्यसंकल्पत्व आदि उसके गुण हैं, इनमें कोई भी विरोध नहीं है, जैसे सैंधेनमकका रसनासे अनुभव कर लेनेपर भी चक्षुआदिके भी तो अनुभव होता है, इसी तरह आत्माका भी विज्ञानघन स्वरूप है । (ब्राह्माधिकरणं समाप्तम्)

सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः । ४–४–८ ।

संकल्पात्–संकल्पमात्रसे एव–ही छा०८–२–१ से १० तकमें कहे हुए कामोंकी प्राप्ति होती है, उसके लिये किसी भी प्रकारके प्रयत्न करने करानेकी आवश्यकता नहीं है । तच्छ्रुतेः– ऐसा ही छा०८–२–१से सुना जाता है, कि–**यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते**–जिस कामकी कामना करता है वह इस मुक्त पुरुषके संकल्पसे ही समुपस्थित होता है ।

मुक्त पुरुषको अपने संकल्पके पूरे करनेमें किसी भी उपकरणकी जरूरत नहीं है । उसकी सब कामनायें संकल्पसे ही पूरी हो जाती हैं ऐसा श्रुति कहती है ।

अत एव चानन्याधिपतिः । ४–४–९ ।

च–और अतः–मुक्त पुरुषका संकल्प सत्य होता है, इस कारण एव–ही अनन्याधिपतिः–वह अपना आप मालिक होता है ।

मुक्त पुरुष सत्यसंकल्प होता है, इसी कारण वह अपने आप अपना मालिक होता है, कोई दूसरा उसका मालिक नहीं होता, क्योंकि कोई दूसरा मालिक हुए वह सत्यसंकल्प नहीं हो सकता । ऐसाही उसे श्रुति भी कहती है कि–स स्वराट् भवति–वह स्वराट् होता है ।(संकल्पाधिकरणं समाप्तम्)

अभावं बादरिराह ह्येवम् । ४–४–१० ।

बादरिः–बादरि आचार्य्य मुक्त पुरुषके अभावम्–देह और इंद्रिय नहीं होती ऐसा आह–कहते हैं हि–निश्चयके साथ एवम्–छा०८–१२–१की श्रुति भी ऐसा ही कहती है, कि शरीरयुक्त सत्का

कहीं भी सुख दुःखसे पीछा नहीं छूटता; शरीर छोड़देनेपर फिर कभी भी सुखदुःखसे स्पर्श भी नहीं होता । अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः--छा० ८--२की श्रुति कहती है जीव इस शरीरसे निकलकर वैकुण्ठमें परमात्माको पा अपने रूपसे अभिनिष्पन्न होता है ।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् । ४--४--११ ।

जैमिनिः--जैमिनि आचार्य्य विकल्पामननात्--छा० में स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति सप्तधा भवति नवधा ७--२६--२ कहा है कि-मुक्त पुरुष अपने संकल्पके अनुसार एक प्रकारसे तीन, पांच, सात, नौ, ग्यारह, सौ, एकहजार इस तरह अनेक प्रकारसे इच्छा आये जिसे शरीर कर सकता है, इस शरीरोंके विकल्पको देखकर विना शरीरके विकल्प होना असंभव मानकर मुक्त पुरुषके भी भावम्--शरीर मानते हैं ।

विना शरीरके, शरीरके एकानेक विषयका विकल्प नहीं हो सकता, इस लिये मुक्त पुरुषके शरीर होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य्य मानते हैं ।

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः । ४--४--१२ ।

अतः--संकल्पसे ही शरीरोंका विकल्प होता है, इस कारण उभयविधम्--मुक्त पुरुषको सशरीर और अशरीर दोनों ही तरहका बादरायणः--भगवान् बादरायण मानते हैं । द्वादशाहवत्--जैसे,द्वादशाह एक ही है, पर संकल्पके भेदसे सत्र और अहीन दोनोंही हो जाता है ।

जैसे द्वादशाह संकल्प भेदसे सत्र और अहीन दोनों ही होजाता है, उसी तरह मुक्त भी अपने संकल्पके अनुसार सशरीर और अशरीर दोनों ही होता है ।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः । ४--४--१३ ।

तन्वभावे--अपने आप बचे हुए शरीरादिके अभावमें सन्ध्यवत्--स्वप्नकी तरह भास करता है, क्योंकि उपपत्तेः--स्वप्नकी प्राप्तिकी तरह प्राप्ति हो सकती है ।

जिस तरह ईश्वरकी इच्छासे स्वप्नमें जीवको रथ आदि अनेक प्रकारके भोगोंकी प्राप्ति होती है उसी तरह मुक्त पुरुषको भी विना शरीरके पुरुषोत्तमके दिये हुए पितृलोक आदि सबकी प्राप्ति हो जाती है ।

भावे जाग्रद्वत् । ४--४--१४ ।

भावे--रचे हुए तनुसे लेकर पितृलोकादिकके रहते हुए जाग्रद्वद्--जाग्रत् पुरुषके भोगोंकी तरह मुक्त भी लीलारसको भोगता है ।

शरीर आदिकके रहते जाग्रत्पुरुषोंकी तरह भगवान्‌की लीलाका रस भोगता है ।

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति । ४--४--१५ ।

प्रदीपवत्--जैसे दीपक एक जगह रक्खा हुआ भी संपूर्ण तत् स्थलको प्रकाशित करता है, उसी तरह जीवात्माका ही अपनी प्रभारूप चैतन्यताद्वारा अपने संपूर्ण शरीर एवं मुक्त जीवका अपनी

इच्छासे बनाये हुए शरीरान्तरोंमें आवेशः—प्रवेश होता है। तथा—तैसा हि—ही दर्शयति—श्रुति दिखाती है।

जैसे छोटासा दीपक पूरे कमरेको प्रकाशित करता है और अपने प्रकाशसे उसमें व्याप जाता है, उसी तरह यह अणु जीव भी अपनी चैतन्यताद्वारा सारे शरीरमें व्याप जाता है, मुक्त और दूसरे शरीरोंमें भी व्याप सकता है, पर अमुक्त नहीं।

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि। ४-४-१६।

स्वाप्यय-सम्पत्त्योः—सुषुप्ति और मरण इन दोनोंमेंसे अन्यतरापेक्षम्—हर एककी अपेक्षासे बृ० ४-३-२१ तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽऽन्तरमेवमे पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्—जैसे कामी पुरुषको प्यारी खूबसूरत स्त्रीके आलिंगन करनेपर बाहिर भीतरका ज्ञान नहीं रहता, इसी तरह प्रिय प्यारे परमात्मासे संपरिष्वक्त होनेपर बाहिर भीतरका कुछ भी अनुभव नहीं होता। ऐसा कहा है यह हाल जीवका सुषुप्ति और उत्क्रमण यानी शरीर छोड़कर गमन करनेमें होता है। हि—क्योंकि आविष्कृतम्—मुक्तको सर्वज्ञत्व आविष्कृत होता है। मुक्तावस्थामें तो सर्वज्ञताका आविर्भाव होता है, इस लिये सुषुप्ति और मरणमें बाह्य और आभ्यन्तर ज्ञानसे शून्य होता है, प्यारी स्त्रीसे लिपटे हुए कामी पुरुषकी तरह यह पूर्व अवस्थाओंसे विशेषता भी है। (अभावाधिकरणं समाप्तम्)

जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च। ४-४-१७।

जगद्व्यापारवर्ज्जम्—सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदिके व्यापारको छोड़कर निष्कपट ब्रह्मका अनुभवरूप मुक्तका ऐश्वर्य होता है, क्योंकि प्रकरणात्—परब्रह्मसे ही उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी बात चलाई गयी है कि—ब्रह्मसे ही सब उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। च—और असन्निहितत्वात्—मुक्तका उस प्रकरणमें कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका तो काम परब्रह्मका ही करना होता है, मुक्त तो निर्मायिकब्रह्मका ही अनुभव किया करते हैं। यह प्रकरणसे मालूम होता है, सृष्टि रचनेके समय मुक्तकी उपस्थिति भी नहीं है।

प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः। ४-४-१८।

प्रत्यक्षोपदेशात्—श्रुतिमें स्वराट् आदि पदोंसे साक्षात् उपदेश होनेसे न—ऐसा नहीं मालूम होता कि जगद्व्यापारको छोड़कर मुक्तका ऐश्वर्य होता है इति—ऐसा कहो चेत्—तो वह न—नहीं कहना चाहिये आधिकारिक—अधिकारोंमें नियुक्त हिरण्यगर्भ आदिके मण्डलस्थ—समुदायके लोक और भोगोंके बारेमें उक्तेः—कहा गया है।

मुक्त पुरुषका यही स्वराट्पना है, कि हिरण्यगर्भादिकोंके लोकोंमें उसका कामचार होता है, ब्रह्मकी विभूतिरूप लोकोंका स्वतंत्र अनुभव करता रहता है। स्वराट् कहनेका यह मतलब है, कि

क्त अपनी खुशीसे सृष्टिको भी रचनेके लिये तैयार हो जाय और रच दे, केवल भगवान्की भूतिमें उसकी पूर्ण स्वतंत्रता है ।

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह । ४--४--१९ ।

विकारावर्ति--मुक्त निखिलविकाररहित कल्याणैकतान निरतिशय आनन्दरूपादि परब्रह्मका अनुभव करता है । तथा--तैसी श्रुति हि--ही स्थितिम्--स्थितिको आह--कहती है ।

मुक्त--स्वभाव तो अपास्तसमस्तदोष और संपूर्ण कल्याणकारी गुणोंकी राशि निरतिशय आनन्दरूप त्माका अनुभव करता है, रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति--यानी वह पुरुषोत्तम ही केवल पूर्वोक्त रसरूप परमात्माको पाकर आनन्दी हो जाता है दूसरी तरह नहीं, ऐसा कहती है ।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने । ४--४--२० ।

च--और एवम्--मुक्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका नियामक नहीं हो सकता, ऐसा ही प्रत्यक्षानुमाने--श्रुति और स्मृति दर्शयतः--दिखाते हैं ।

स्वतोनियम्य मुक्त जीव जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि वह काम केवल पुरुषोत्तमका ही है दूसरेका नहीं है । कठ ऐसा कहता है कि--सब वायु आदि इसके डरके मारे अपने २ कामोंको करते हैं । बृ०--इस अक्षर ब्रह्मके प्रकाशनमें सूर्य्य और चंद्रमा ठहर रहे हैं । इसके सिवा यह भी कहा है, कि पुरुषोत्तम ही सर्वेश्वर हैं कोई दूसरा नहीं, गीतामें भी "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः" ऐसा ही कहा गया है, श्रुति और स्मृति ऐसा ही कहती हैं, कि--पुरुषोत्तम ही सृष्टिको रचता है, सिवा पुरुषोत्तमके दूसरा कोई सृष्टिको नहीं रचता ।

भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च । ४--४--२१ ।

च--और भोगमात्र--ब्रह्मके याथात्म्यका अनुभवरूप भोगमात्र साम्य--ब्रह्मके साम्यप्रतिपादन लिङ्गात्--हेतुसे ।

संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तो करना ईश्वरका कार्य्य है; उसे तो दूसरा कर नहीं सकता, जैसे ब्रह्ममें सत्यसंकल्पत्वादिक गुण हैं वे मुक्तमें भी होते हैं, इस कारण जीवको ब्रह्मकी समानताका उपदेश किया गया है ।

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् । ४--४--२२ ।

शब्दात्--वेदसे पता चलता है कि ईश्वर है । तथा वेदसे ही यह भी पता चलता है कि नारायणकी उपा[illegible] अविद्याको निवृत्त करके मुक्त हो फिर अनावृत्तिः--इस संसारके जन्म, मरण उसे नहीं सताते । अनावृत्तिः शब्दात्--यह पुनरुच्चारण समाप्तिके लिये है ।

वेदने यह भी बताया है कि पुरुषोत्तम है जो जीवोंके लिये सृष्टिको रचता है तथा बताया है कि मुक्त होकर फिर किसी तरहसे कभी भी जन्म, मरणको नहीं पाता, इस वेदान्त यह मानते हैं कि, मुक्तका फिर संसारमें आना जाना नहीं होता । (जगद्व्यापारकरणं समाप्तम्)

इति पं० माधवाचार्यकृतायां वेदान्तदर्शनव्याख्यायां वेदान्तपदार्थप्रकाशाख्यायां चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः अध्यायश्च समाप्तः ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

समाप्तमिदं वेदान्तदर्शनम् ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,
बम्बई.

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" प्रेस,
कल्याण-बम्बई.